विशाल-भारत

सचित्र मासिक पत्र

वर्ष ४, भाग ७

जनवरीसे जून १९३१

संपादक :—बनारसीदास चतुर्वेदी

संचालक :—रामानन्द चट्टोपाध्याय

सहकारी सम्पादक

ब्रजमोहन वर्मा और धन्यकुमार जैन

वार्षिक मूल्य ६)
विदेशोंके लिए ७॥)

"विशाल-भारत" कार्यालय

१२०।२, अपर सर्कूलर रोड, कलकत्ता

छमाही मूल्य ३।)
एक अंकका ।।=)

'विशाल-भारत'—जनवरीसे जून १९३१

विषय-सूची

सम्पादकीय विचार :—

समालोचना और प्राप्ति-स्वीकार—

साहित्य-सेवी और साहित्य-चर्चा :—

हमारे गांव :—

लेखक और उनकी रचनाएँ

चित्र-सूची

रंगीन चित्र

सादे चित्र

"सत्यम् शिवम् सुन्दरम्"
"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"

वर्ष ४ भाग ८ | जुलाई १९३१; श्रावण १९८८ | अङ्क १ पूर्णाङ्क ४३

श्रद्धेय गणेशजी

बनारसीदास चतुर्वेदी

"चित्तौरसे खण्डवा जा रहा हूँ। इन्दौर स्टेशन बीचमें पड़ेगा। आप मुझसे वहीं मिलिये। गाड़ी सवेरे पहुँचती है।" सन १९१५ में श्रद्धेय गणेशजीने एक कार्ड इस आशयका मुझे भेजा था। मैं उन दिनों इन्दौरमें ही अध्यापनका कार्य करता था। प्रात:कालके समय स्टेशनके लिए चल पड़ा। पहले कभी उन्हें देखा नहीं था, इसलिये चिन्ता थी कि उन्हें पहचानूँगा कैसे। गाड़ी पाँच-सात मिनटसे अधिक न ठहरती थी। इतने ही समयमें उन्हें तलाश करके बातचीत करनी थी। उनका नाम लेकर स्टेशनपर चिल्लानेमें तो अशिष्टता होगी। गाड़ी आई; बीसियों यात्री नीचे उतरे। उनमें छरहरे बदनके और चश्मा लगाये हुए एक नवयुवक भी थे। समझ लिया हों न हों, यही विद्यार्थीजी होंगे। हिन्दी-सम्पादकोंमें किसीके मोटे होनेकी सम्भावना तो थी ही नहीं। निकट जाकर पूछा—"क्या आप ही 'प्रताप' के सम्पादक हैं?"

"और आप फिजीके पंडित तोतारामजी?"

"नहीं, पर मैं उन्हींका आदमी हूँ।"

उन दिनों मैंने पं० तोतारामजीके कृपापूर्ण सहयोगसे प्रवासी भारतीयोंका कार्य प्रारम्भ किया था।

श्रद्धेय गणेशजीके प्रथम दर्शन मुझे इस प्रकार हुए।

उन पाँच मिनटोंकी बातचीतने भी हृदयपर काफ़ी प्रभाव डाला। इसके बाद तो पिछले सोलह वर्षोंके बीचमें बीसियों बार श्रद्धेय गणेशजीसे मिलनेके अवसर प्राप्त हुए। एक बार वे मेरे घर पर भी पधारे, और 'प्रताप' कार्यालय तो अपना घर ही बन गया तथा गणेशजी अपने बन्धु। यद्यपि मुझे श्रद्धेय गणेशजीके उतने निकट पहुँचनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, जितने निकट माखनलालजी, श्रीकृष्णदत्त पालीवालजी, श्रीराम शर्मा तथा ठाकुरप्रसाद शर्मा इत्यादि पहुँच सके, तथापि मेरा दृढ़ विश्वास है कि मुझपर उनकी जितनी कृपा थी, वह किसीसे कम नहीं थी। आश्चर्यकी बात तो यह है कि उनके कितने ही बन्धु ऐसे हैं, जो इस बातका दावा करते हैं कि उन्हींपर उनकी सबसे अधिक कृपा थी! गणेशजी एक संस्था थे, कार्यकर्ताओंके एक कुटुम्बके पालक-पोषक थे और उनके विशाल हृदयमें हम सबके लिए स्थान था। इस कुटुम्बमें क्रान्तिकारियोंसे लगाकर मेरे जैसे 'माडरेट' भी थे, पर वे सबपर स्नेह रखते थे, सबके बन्धु थे और सबसे ऊँचे थे। सबमें मिले हुए होनेपर भी सबसे अलग थे। उनका व्यक्तित्व निराला था। हिमालयकी तराईमें खड़े हुए व्यक्तिके हृदयमें माउन्ट ऐवरेस्ट या गौरीशंकरकी चोटीकी ओर देखते हुए जिस प्रकारके भयमिश्रित सम्मानके भावोंका उदय होता है, उसी प्रकारके भावोंका उदय आज अमर शहीद विद्यार्थीजीके चरित्रकी ओर दृष्टि डालनेपर इन पंक्तियोंके लेखकके हृदयमें हो रहा है। उनके विषयमें अनेक मित्रों तथा भक्तोंने अपने-अपने संस्मरण लिखे हैं। एक पत्रकार बन्धुकी हैसियतसे मैं भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं। साथी पत्रकारोंके साथ वे कैसा बर्ताव करते थे, उनका हृदय किस प्रकार ग्रहण करते थे, उनका कितना खयाल रखते थे और संकटके समय उनकी कितनी सहायता करते थे, श्रद्धेय विद्यार्थीजीके जीवनके इस पहलूपर इन पंक्तियोंसे शायद कुछ प्रकाश पड़े।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्रद्धेय गणेशजीने कितने ही युवकोंको लेखक बनाया था और लेखकोंको पत्रकार। उन्होंने एक बार अपने एक सम्पादक-मित्रसे कहा था—'यह क्या बात है जी कि तुम्हारे पत्रको काम करते हुए इतने दिन हो गये और तुमने अभी तक एक भी अच्छा लेखक नहीं बना पाया?'' इस विषयमें गणेशजी अपने सुयोग्य गुरु द्विवेदीजीके सुयोग्य शिष्य थे। 'प्रताप' के वायुमंडलमें बने और पनपे हुए कवियों, लेखकों तथा सम्पादकोंकी संख्या काफ़ी बड़ी है।

हिन्दी-पत्रकारोंका जीवन कितना संकटमय होता है, यह भुक्तभोगी ही जानते हैं। ऐसे संकटके समय वह किसी न किसीका सहारा ढूंढ़ता है, पर हिन्दी-सम्पादकोंमें कितने ऐसे हैं, जो सहानुभूतिपूर्ण उत्तर भी दे सकें, आर्थिक सहायता देना या दिलाना तो दूरकी बात है? और दरअसल आर्थिक सहायता तो एक गौण चीज़ है। सहानुभूतिके भूखे कष्टपीड़ित पत्रकारको appreciation या दादकी जितनी ज़रूरत है, उतनी किसी दूसरी चीज़की नहीं। वह अपने कष्टोंको सन्तोषपूर्वक सहन कर सकता है, यदि उसे विश्वास दिला दिया जाय कि उसके जीवनका भी कुछ उपयोग है। गणेशजी एक सफल पत्रकार थे, मनोविज्ञानके अच्छे ज्ञाता थे और सबसे बढ़कर बात यह है कि वे एक सहृदय मनुष्य थे। अपने संकटग्रस्त पत्रकार-बन्धुओंकी इस प्रकार सहायता करना कि उनके आत्म-सम्मानको किसी प्रकारकी ठेस न पहुँचने पावे, वे ख़ूब जानते थे।

नवम्बर १९२० में मैंने एक पत्र अपने विषयमें उन्हें लिख भेजा। १९१५ और १९२० के बीचमें उनसे घनिष्ठ परिचय हो चुका था, इस कारण यह हिम्मत पड़ी। उन्होंने इस पत्रका जो उत्तर भेजा, वह इतना उत्साहप्रद था कि उसे मैंने सर्टीफिकेटके लिफाफेमें रख छोड़ा, और आज लगभग ११ वर्ष बाद उसके कुछ अंश उद्धृत करता हूँ।

प्रारम्भकी प्रशंसात्मक पंक्तियाँ छोड़ दी गई हैं—

''प्रियवर चतुर्वेदीजी, १९-११-२०

बन्दे। आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ।''''''आपने जो कुछ लिखा, वह मुझे हृदयसे स्वीकार है। 'प्रताप' आपका है। आप

वैसे कहें, तो 'प्रताप' की सारी शक्तियाँ आपके चरणोंमें अर्पित हो जायँ। Charity की बात नहीं, ऐसी आत्माओंके कुछ भी काम आना सौभाग्य है, अपने कामका पोषण है, लक्ष्य सिद्धिकी ओर बढ़ना है। दैनिक 'प्रताप' २२ ता० से निकलने लगेगा। आप उसके लिए छोटे-छोटे लेख लिखें। मैं समझता हूँ कि बड़े लेख कम पढ़े जाते हैं। एक अंकमें एक बात पूरी हो जाय। आप हर मास १०-१२-१५ तक ऐसे लेख दें। आपकी जो आज्ञा होगी, 'प्रताप' उसे आपके चरणोंमें रखेगा।

हमने अभी यह तय किया है कि जिन लेखकोंसे हम दैनिकमें लिखावेंगे, उन्हें एक रुपया कालम देंगे, परन्तु आपके लिए आपकी आज्ञा हमें मान्य होगी। योग्य सेवाका आदेश दें।

आपका—
ग० श० विद्यार्थी।"

महीनेमें २५।२६ दिन निकलनेवाले दैनिक पत्रमें १०-१२-१५ लेख छापनेका वचन देना और साथ ही यह भी कह देना कि अपने लेखका मूल्य भी अपनी इच्छानुसार लगा लो, कितनी भारी सहायता थी। यद्यपि इस सहायताके उपयोग करनेका मौक़ा ही नहीं आया, क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं रही थी, पर आज भी उस सन्तोषका स्मरण करके हृदय गद्‌गद हो जाता है, जो उपर्युक्त पत्रके मिलनेपर प्राप्त हुआ था।

अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी गणेशजी अपने पत्रकार बन्धुओंका बराबर खयाल रखते थे। किन-किन कठिनाइयोंमें उन्हें काम करना पड़ता था, उसका अनुमान उनके एक पत्रके निम्न-लिखित अंशसे किया जा सकता है—

"प्रिय चतुर्वेदीजी, बन्दे।

आप बहुत नाराज़ होंगे। आप लम्बे पत्र भेजते हैं, मैं ठीक-ठीक उत्तर भी नहीं देता। क्या करूँ, मुझे कामकी अधिकताकी शिकायत नहीं है; मुझे शिकायत इस बातकी है कि मैं इतना दुर्बल क्यों हूँ कि इतना कम काम कर पाता हूँ। यदि मैं २४ घंटा काम कर सकता, तो आलस्य न करता। इस समय तो घूमना तक छुटा हुआ है। घरकी चिन्ताओंसे घरके बाहर निकलते ही छुट जाता हूँ, और बाहरसे घर पहुँचते ही, घरकी चिन्ताओंसे दब जाता हूँ। दोनों ओर खाई है। आज पाँच रातसे बराबर जागकर दो बच्चोंकी, जिन्हें न्यूमोनिया हो गया है, सेवा कर रहा हूँ, और दिनको जब कार्यालयमें आता हूँ, तो 'प्रताप'के कार्यमें नहीं, दूसरे कामोंकी बाढ़में बह जाता हूँ। हालत उस तिनकेकी-सी है, जो तेज़ बहावमें ठहर नहीं पाता और बहता ही चला जाता है। खैर यह तो आत्म-कथा है, और इतनी लम्बी-चौड़ी है कि कई पत्रोंमें भी समाप्त नहीं हो सकती। कहनेका तात्पर्य यह कि ऐसे आदमीसे आप अधिक आशा न कीजिए। लेख लिखना बहुत कठिन है। दो सप्ताहसे 'प्रताप' ही में कुछ नहीं लिख पाया हूँ। बाहरके किसी सज्जनके लिए लिखूँगा, तो आपके लिए, सबसे पहले लिखूँगा।

आपका—
ग० श० विद्यार्थी।"

इस प्रकार व्यस्त रहनेपर भी उन्हें यह बात नहीं भूलती थी कि उनका अमुक पत्रकार-बन्धु संकटमें है, उसे कहीं कामपर लगाना है। उनका १४।४।२७ का एक पत्र यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"प्रिय चतुर्वेदीजी, बन्दे।   कानपुर, १४-४-२७

आप प्रयागके मेजर वसु और उनके पाणिनि-आफिसको अवश्य जानते होंगे। मेजर साहबके पास दस-बारह हज़ार पुस्तकें हैं। वे Indian Academy नामकी एक संस्था बनाना चाहते हैं, जहाँ कुछ विद्वान् बैठकर भारतीय इतिहासके रिसर्चका काम करें। मेजर साहबके पास इस कामके लिए बहुत मसाला है। वे अपनी किताबें, कुछ ज़मीन और कुछ रुपया देना चाहते हैं, और चाहते हैं यह कि कोई सत्पात्र इस कामको उठा लेवे, और कई सज्जनोंकी एक कमेटी बन

जाय, जो आवश्यक फण्डका प्रबन्ध कर ले। सुन्दरलालजी तथा मेरी दृष्टि आपपर पड़ी। क्या आप प्रयागमें रहकर इस कामको आगे बढ़ा सकते हैं? फण्डकी कमी न रहेगी, यदि कोई एक आदमी भी जुटनेवाला मिल जाय। मेजर बूढ़े आदमी हैं। वे कुछ लिखनेका काम कर और करा सकते हैं, इससे अधिक और कुछ नहीं। यदि आपको सुविधा हो, तो आप इलाहाबाद जाकर मेजर वसु और सुन्दरलालजीसे मिल लीजिए। इसमें जो खर्च होगा, मैं दूँगा। उत्तर शीघ्र दीजिएगा। आशा है, आप सानन्द होंगे।

आपका—

ग० श० विद्यार्थी।"

कौन हिन्दी-सम्पादक ऐसा है जो अपने भाइयोंका इतना ध्यान रखता हो? काम तलाश करना और आने-जानेका खर्च भी अपने पाससे देनेके लिए कहना, यह कितनी अधिक उदारता थी।

गणेशजीके बन्धुत्वमें कृत्रिमता नहीं थी, वह पूर्णतया स्वाभाविक था। वे अपने साथियोंसे कामरेडशिपका बर्ताव करते थे और उन्हें खूब स्वतन्त्रता देते थे। यहाँ तक कि उनके साथी उन्हें उसी प्रकार खरी-खोटी सुना सकते थे, जिस प्रकार कोई अपने घरके बड़े भाईको सुना सकता है। इस प्रसंगमें एक बात याद आ रही है। 'विशाल-भारत' की आलोचना 'प्रताप' में हो गई थी और वह काफ़ी प्रशंसात्मक थी, पर वह गणेशजीके हाथकी लिखी नहीं थी। बस, इसी बातसे मैं असन्तुष्ट हो गया। इसके बाद 'प्रताप' कार्यालयसे एक ब्लाक उधार मँगाया, जो मैनेजरने भेज दिया, पर साथ ही यह भी लिख दिया कि ब्लाक उधार देनेमें हमें बड़ी असुविधा होती है। यह बात भी मुझे बुरी लगी। सोच लिया कि कभी कानपुर पहुँचकर गणेशजीको खूब खरी खोटी सुनाऊँगा। एक अवसर भी आ गया। कानपुर उतरा और 'प्रताप' कार्यालयमें डेरा जा जमाया। गणेशजी उस समय आफिसमें थे नहीं। सामान रखकर एक कुरसीपर बैठ गया। सामने मेज़ थी। गणेशजी आये। मैं उठने लगा। वे बोले—"अरे भई! बैठे भी रहो।" ऐसा कहकर कन्धोंपर हाथ रखके कुरसीपर बिठला दिया, और स्वयं मेज़के सहारे खड़े हो गये। मैंने कहा—"मैं तो आज आपको Condemn करने आया हूँ—अच्छी तरह डाँट बतानेके लिए, हाँ।"

गणेशजीने हँसकर कहा—"कहो भी, क्या हुआ? आख़िर बात क्या हुई?"

मैंने कहा—"बात क्या है। मैंने तय कर लिया है कि अब 'विशाल-भारत' में खूब घासलेटी क़िस्से छापा करूँगा। आपने अमुक घासलेटी पत्रकी लम्बी आलोचना 'प्रताप' में की है और हमारे पत्रके विषयमें कुल जमा आठ-दस लाइन निकली हैं, सो भी आपने नहीं लिखीं।" और भी न जाने क्या-क्या बात उस समय अभिमानवश कह गया, मानो गणेशजी कोई भयंकर अपराधी हों और मैं कुरसीपर बैठा हुआ जज!

गणेशजी मुसकराये और बोले—"बस, इतनी ही बात है! यही मेरा घोर अपराध है? अच्छा भाई, अबकी बार खुद लिखूँगा।"

मैंने कहा—"दूसरा अपराध आपने और भी किया है। ब्लाक उधार नहीं दिये।"

इसपर गणेशजीने सारा क़िस्सा सुनाया—'दिल्लीके अमुक पत्रने 'प्रताप' के इतने ब्लाक हज़म कर लिये, और फलाँ अखबारने ब्लाकोंको बिलकुल खराब कर दिया। बताओ, इस हालतमें क्या किया जाय? आफिसको General instruction दे रखी है कि ब्लाक बाहर न भेजे जायँ। तुम्हारी चिट्ठी आई होगी। मैनेजरने जवाब दे दिया होगा। मैं तो सब चिट्ठियाँ देखनेसे रहा। अच्छा, अब जो ब्लाक चाहे उठा ले जाओ। मैनेजरको मैं कह दूँगा, पर मैं यह तुम्हें बतला देना चाहता हूँ कि अगर तुम अपने आफिससे ब्लाक उधार देना शुरू करोगे,

तो तुम्हें भी कटु अनुभव होगा।" गणेशजीकी बात बिलकुल ठीक थी। मुझे भी आगे चलकर इस विषयमें वैसे ही कड़ुवे अनुभव हुए। हिन्दी और अंग्रेज़ीके अनेकों सम्पादकोंसे मेरा परिचय है, पर किसीके सामने इस स्वतन्त्रताके साथ खरी-खोटी सुनानेकी हिम्मत मुझमें नहीं है। और कौन छुटभइयोंको इतनी स्वतन्त्रता देता है? हां, यह कहना मैं भूल गया कि कुछ दिनों बाद गणेशजीने 'विशाल-भारत'की दो-ढाई कालमकी आलोचना स्वयं ही 'प्रताप' में की।

जब गणेशजी कानपुरसे कौंसिलके चुनावके लिए खड़े किये गये, तो मैंने उनकी सेवामें एक पत्र भेजा। इस पत्रका आशय यह था कि आप जैसे Mass-minded (सर्वसाधारण-जैसे विचारवाले) आदमी चुनावके दलदलमें क्यों फँस रहे हैं, यह बात मेरी समझमें नहीं आती। इस पत्रका जो विस्तृत उत्तर आया, उसे मैं ज्यों-का-त्यों प्रकाशित करता हूँ।

"प्रिय चतुर्वेदीजी, बन्दे।

आपका कृपापत्र मिला। मैं गत सप्ताहसे छुट्टीपर हूं, इसलिए, आपके पत्रका उत्तर तुरन्त न दे सका। आपने जो शंका प्रकट की है, वह ठीक है। मैं कौन्सिलमें जाना लाभदायक नहीं समझता। वहाँका वायुमंडल बहुत विषैला है और कौन्सिलसे देश या साधारण आदमियोंको कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। इसके अतिरिक्त मैं यह भी देख रहा हूं कि हममें से जो लोग कौन्सिलमें जायँगे, उनकी और अधिक ख्वारी होगी, और वे और भी नीचे जायँगे। कानपुर-कांग्रेसने अपने ऊपर इलेकशनका काम लेकर देशको बहुत हानि पहुँचाई। मैं कौन्सिलमें क़तई नहीं जाना चाहता। अपना सौभाग्य समझूँगा, यदि इसकी छूतसे बचा रहूँ। यहाँका हाल यह है कि कानपुरमें जान तो है और लोग साहस और जोशके भी हैं, किन्तु उनके पास कौन्सिल-युद्धके लिए उपयुक्त बलिदान नहीं है। डा० मुरारीलाल और डा० जवाहरलाल डेढ़-डेढ़ वर्षके लिए सज़ायाब होनेके कारण खड़े नहीं हो सकते। अब उनके लिए मैं ही एक आदमी ऐसा दिखाई देता हूँ, जिसे लेकर वे कानपुरके एक ऐसे आदमीके मुक़ाबलेमें सफलताकी आशा करते हैं जो लाट साहबसे हाथ मिलानेकी ख्वाहिश पूरी करनेके लिए ५०,०००) रुपया खर्च करनेके लिए तैयार है और जो रुपयेके बलपर कानपुरके वोटोंको अपने हाथोंमें करनेका दम भरता है। कांग्रेस-कमेटीने एकमतसे मेरा नाम रखा। मैंने इसका विरोध किया। हम दो विरोधी थे—मैं और बालकृष्ण। उसके बाद, यह बात प्रान्तिक कमेटीकी कौन्सिलके सामने गई। मैंने वहाँ स्पष्ट रूपसे लिखकर भेजा कि मुझे माफ कीजिए, किन्तु इस विनयपर भी कोई ध्यान नहीं दिया गया, और वहाँ भी मेरा नाम रख दिया गया। उसीको आपने पत्रोंमें देखा है। इसके बाद अब घरेलू युद्ध फिर छिड़ा हुआ है। मैं प्राण बचाता हूँ, किन्तु देवीकी उपासना करनेवाले बलिदानके लिए मुझे पकड़ते फिर रहे हैं। मैंने अन्तिम निर्णयके लिए दस दिनकी मोहलत मांग ली है, जो १० जूनको समाप्त होगी। मेरे सामने विचारनेकी यह बात है कि यदि मैं बलिदान होनेके लिए राज़ी नहीं होता, तो यहाँके पुराने कार्यकर्ता कांग्रेससे इस्तीफा दे देंगे, क्योंकि वे कांग्रेसमें रहते हुए कांग्रेसकी प्रतिष्ठा जाते हुए नहीं देखना चाहते। बार-बार कांग्रेसकी प्रतिष्ठाकी दुहाई दी जा रही है। मैं यह बात पेश कर रहा हूँ कि मैं अपरिवर्तनवादी न होते हुए भी, कौन्सिलकी उपयोगितापर विश्वास नहीं करता और यह समझता हूँ कि जो बहुत साधारण-सा अन्तर इस समय स्वराजियों, प्रतिसहयोगियों और नेशनल पार्टीमें दिखाई दे रहा है, वह इलेकशनके बाद न रह जायगा। मैं यह भी कहता हूँ कि मैं हिन्दू-मुसलमानोंके झगड़ेका मूलकारण इलेकशन आदिको समझता हूँ, और कौंसिलमें जानेके बाद आदमी देश और जनताके कामका नहीं रहता। मैंने कुछ बाहरी मित्रोंसे राय माँगी है। आप भी अपनी राय देनेकी कृपा करें।

१० जून तक कुछ निर्णय कर सकूँगा। चतुर्वेदीजी इस संकटमें मैं आप ऐसे मित्रोंकी समवेदनाका अधिकारी हूँ। मैं अपने सहयोगियोंसे शुष्क व्यवहार इसलिए भी नहीं कर

सकता कि हमारे आपसके सम्बन्ध सदा बहुत कोमल रहे हैं। आशा है, आप सानन्द होंगे।

आपका—

ग० श० विद्यार्थी।"

मेरा विचार बहुत दिनोंसे पूज्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदीके जीवन-चरितको लिखनेका था, पर इसके लिए उनकी सेवामें महीने-दो-महीने रहनेकी आवश्यकता थी। समय तो मेरे पास था, पर साधन नहीं थे। किसीसे कहनेकी हिम्मत नहीं पड़ी। बहुत दिनों बाद योंही मैंने गणेशजीको भेजे गये एक पत्रमें अपने इस पुराने विचारका ज़िक्र कर दिया। इसपर उन्होंने जो पत्र लिखा, उसे यहाँ उद्धृत करता हूँ—

"प्रिय चतुर्वेदीजी, बन्दे। कानपुर ४-२-३०

आपका ६ दिसम्बरका एक पत्र मेरी डाकमें पड़ा हुआ था। वह आज फिर दिखाई दिया। बीमारीके कारण, उत्तर न दे सका था। आज कुछ समय मिला, इसीलिए आपके उस पत्रका उत्तर लिख रहा हूँ। दोनों आलोचनाएँ—अर्थात् 'विशाल-भारत'की और 'चांद'के उस अंककी मेरी ही लिखी हुई थीं। आपने द्विवेदीजीके पत्रकी नक़ल भेजकर मेरी धारणाको और भी दृढ़ कर दिया। मैं उन्हें बहुत पहलेसे बहुत कोमल भावनाओंका व्यक्ति मानता हूँ। वे छोटी-सी-छोटी अनुकम्पाको नहीं भूलते, और अपने निकटके आदमियोंको इतना चाहते हैं कि देखकर दंग रह जाना पड़ता है। ऊपरसे उनमें इतनी शुष्कता दिखाई देती है कि दूरका आदमी उनसे सदा घबड़ाया करता है। आपने वह अवसर बुरा छोड़ा। दो-चार सौ रुपयेकी तो कोई बात नहीं है। अब भी मैं तैयार हूँ। आप ऐसा पारखी ही उन्हें अच्छी तरह समझ सकता है। किसी समय भी आप समय निकालिए। आप जानते हैं कि जानसन बड़ा होते हुए भी इतना बड़ा न समझा जाता, यदि उसकी जीवनीका लेखक बोसवेल न बनता। आप पूज्य द्विवेदीजीके पास कुछ दिन अवश्य रह जाइए। सम्भव है, वे अभी जियें, किन्तु किसीके जीनेके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उनमें कितने ही ऐसे गुण हैं कि आनेवाली सन्तति उन गुणोंकी कथा सुनकर ही बहुत कुछ सीख सकेगी। आप उनके बोसवेल बन जाइए, जो खर्च पड़े, उसका ज़िम्मेदार मैं। आपके पास भी कामोंकी कमी नहीं है। किन्तु, दो-तीन बारमें आप कुछ सप्ताहोंका समय निकाल सकते हैं। आशा है, आप मेरी इस प्रार्थनापर पूरी तरह ध्यान देंगे। मेरे योग्य सेवा लिखते रहें।

आपका—

ग० श० विद्यार्थी।"

मैं ऐसे सपूतोंको जानता हूँ, जो अपने पिताकी स्मृति-रक्षाके लिए एक पैसा भी खर्च नहीं करना चाहते! बड़े परिश्रमके साथ मैंने एक साहित्य-सेवीके जीवन-चरितके लिये नोट लिए और मसाला संग्रह किया। जब मैंने जीवन-चरित लिखनेका विचार किया, तो उनके पुत्र बजाय कुछ मसाला भेजनेके मुझसे मेरे नोट ही वापस माँगने लगे! दूसरे महानुभाव दो सालसे अपने पिताजीके जीवन-सम्बन्धी काग़ज़ात पंजाबसे मँगा रहे हैं! और तीसरे महानुभाव बिना एक कौड़ी खर्च किये, जीवन-चरित लिखानेकी फ़िक्रमें हैं। विचारणीय बात यह भी है कि ये तीनों सज्जन खूब खाते-पीते खुश-खुर्रम हैं, पर पिताका सच्चा श्राद्ध करनेके लिए न उनके पास पैसा है और न समय! इनकी तुलना कीजिए गणेशजीकी उदारतासे, जो आर्थिक संकटमें रहते हुए भी चार सौ रुपये तक केवल इसीलिए खर्च करनेको तैय्यार थे कि उनके गुरु पूज्य द्विवेदीजीका जीवन-चरित लिखा जाय।

एक बार श्रद्धेय गणेशजीने मुझे बहुत समझाया और कहा—"Self-sacrifice (आत्मत्याग) और Suicide (आत्मघात) ये दोनों अलग चीज़ें हैं। अपने लेखोंके लिए पुरस्कार लिया करो।" और बहुत दिनों तक उन्होंने 'प्रताप'के ५) प्रति पृष्ठके हिसाबसे पुरस्कार दिया भी।

गणेशजीकी इस प्रकारकी कृपा केवल मुझीपर रही हो,

सो बात नहीं। अनेक लेखक आज उनकी कृपाओंका स्मरण कर आँसू बहाते हैं।

अभी उस दिन एक पत्रकारने कहा—"मैं एक सज्जनसे मिलने आगरे गया हुआ था। रेलसे वापस आनेके लिए पैसे पास थे नहीं, और उन महाशयसे माँगनेमें संकोच हुआ, इसलिए पैदल ही चल पड़ा। रास्तेमें एक महाशय मिल गये, जो गणेशजीके और मेरे दोनोंके परिचित थे। उन्होंने बातचीतमें पूछा, तो मैंने कारण बतला दिया। उन्होंने यह बात कहीं गणेशजीसे जाकर कह दी। बस, उन्होंने तुरन्त ही पचास रुपयेका मनीआर्डर भेज दिया, और लिखा—'तुम भी अजीब आदमी हो! भला, अपनोंसे इतना संकोच? हमें रूखी-सूखी खानेको मिलती है, तो हम-तुम बाँटकर खा लेंगे।' पत्रके शब्द ठीक-ठीक ये नहीं थे, पर आशय यही था। मैं अपनी इस भूलपर कि मैंने उस आदमीसे यह बात क्यों कही, बड़ा लज्जित हुआ।"

हमारे पड़ोसी एक दूसरे पत्रकार कहते हैं—"मुझे एक अत्यन्त आवश्यक घरेलू कार्यके लिए दो सौ रुपयेकी ज़रूरत थी। कहींसे मिलनेकी सुविधा नहीं थी। गणेशजीके पास गया। 'प्रताप' कार्यालयमें भी उस दिन रुपये नहीं थे। गणेशजीने अपने एक साथीको बुलाकर कहा—'देखो जी, मेरी ज़िम्मेवारीपर दो सौ रुपये अमुक दूकानसे लाकर इनको दे दो। इनका काम चलने दो, फिर पीछे देखा जायगा।'"

सत्याग्रह-आश्रमकी बात है। लड़केको तेज़ बुखार आ गया था। मैं घबरा गया। डाक्टर चार-पाँच मीलपर रहते थे। अपने एक साथी पत्रकारके पास गया। वे लेख लिखनेमें अत्यन्त व्यस्त थे। ज्यों ही मैंने ज़िक्र किया, उन्होंने तुरन्त ही क़लम रख दी और साथ चल दिये। डाक्टर लाये। लड़का आराम हो गया। मैंने उन पत्रकार महानुभावसे कहा—"आप उस दिन फौरन ही मेरे साथ चल दिये, इससे मुझे बड़ा हर्ष हुआ।" उन्होंने कहा—"यह बात मैंने गणेशजीसे सीखी। चाहे जैसा ज़रूरी काम वे कर रहे हों, यदि उन्हें यह मालूम हो जाय कि किसी बीमारके लिए उसकी सेवाकी ज़रूरत है, तो वे तुरन्त अपना काम छोड़कर उस बीमारका काम करते हैं।"

सन् १६२४ के प्रारम्भमें पूर्व-अफ्रिका जाते समय जहाज़में डेकपर यात्रा कर रहा था। श्रीमती सरोजिनी देवी ऊपर फर्स्ट क्लासमें थीं। समुद्री बीमारी (Sea-sickness) के मारे नाकों दम था। चारों ओर स्त्री-पुरुष कै कर रहे थे। मेरे लिए यह प्रथम बारकी समुद्र-यात्रा थी, इसलिए और भी घबड़ा रहा था। उस समय गणेशजी जेलमें थे। उनकी याद आ गई। मि० ऐण्ड्रूज़का भी स्मरण हुआ। दिलमें सोचा कि क्या ही अच्छा होता, यदि दुनियामें मि० ऐण्ड्रूज़ और गणेशजी जैसे सहृदय व्यक्ति बहुतसे होते। अपने मनको शान्त करनेके लिए उसी समय गणेशजीका एक छोटासा स्केच अंग्रेज़ीमें लिखा। केनियाकी राजधानी नैरोबी पहुँचकर मैंने पहला काम यह किया कि टाइप करके उस स्केचकी एक प्रति 'लीडर'को भेजी। यह लेख 'लीडर' के २१ फरवरी, सन् १६२४ के अंकमें प्रकाशित हुआ। उस लेखके दो वाक्य निम्न-लिखित हैं—

"What is behind this influence of the 'Pratap'? The personality of Ganesh Shankar Vidyarthi. Quite unassuming in his manners, with a heart which keenly feels for the poor and a face which speaks of his long suffering and transparent sincerity, the personality of Ganesh Shankar Vidyarthi has a peculiar charm of its own. He has suffered much, has faced many difficulties and has passed countless troublesome days and anxious nights. He has been sent to jail thrice and his is a record of suffering hard to beat.

"Having no axe of his own to grind, with no ambition except that of serving the poor, possessing an indomitable courage, ever ready to oppose tyranny and injustice from whatever quarter they may come—the capitalists, the Government or the mob—Shriyut Ganesh Shankar Vidyarthi, the fighting editor of the 'Partap', is a representative of the powerful journalism of the coming future in India."

गणेशजी हास्य-प्रिय भी खूब थे और उनसे हँसी-मज़ाक भी खूब होता था। गोरखपुरके हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनमें वे प्रधान थे। जब उनका स्वागत-आगत हो चुका, तो मिलनेपर उन्होंने पूछा—"अरे भई! तुमने यह क्या घासलेटका झगड़ा खड़ा कर दिया है?"

मैंने कहा—"एक औरत थी। उसने नया गहना (कंगन) बनवाया। किसीने पूछा भी नहीं। बस, उसने अपनी झोंपड़ीमें आग लगा दी और हाथ उठा-उठाकर आग बुझानेके लिए चिल्लाने लगी। लोग बुझाने आये। एकने पूछा—'तुमने यह गहना कब बनवाया?' उस औरतने कहा—'अगर यह बात तुम पहले ही पूछ लेते, तो इस झोंपड़ीमें आग क्यों लगती?' सो आप पहलेसे ही हमारा समर्थन करते, तो यह घासलेट आन्दोलन क्यों खड़ा होता?"

यह सुनकर गणेशजी खूब खिलखिलाकर हँस पड़े, और बोले—"अच्छा, अच्छा, समझ गये! यह तुम्हारी Personal vanity (व्यक्तिगत अहंकार) है।"

सम्मेलनमें गणेशजीके सभापति होनेसे यही प्रतीत होता था कि सम्मेलन अपना ही है। उनको जब कुछ गौरव प्राप्त होता था, तो उसे वे मानो अपने साथियोंमें बाँट देते थे। गोरखपुर-सम्मेलनमें उनके साथियोंको यह प्रतीत होता था, मानो हमीं सभापति हैं, पर गणेशजी अपने कार्यमें या नियन्त्रणमें शिथिलता बिलकुल नहीं आने देते थे। बालकृष्णजी तथा शिवनारायणजी इत्यादिको उन्होंने खासी डाँट बतलाई। मैं भी उनसे झगड़ पड़ा और मुझे भी फटकार सुननी पड़ी।

गणेशजीके साथी जब आपसमें मिलते तो प्रायः उनकी चर्चा रहती। उनके गुण दोषोंकी विवेचना होती। एक बार मैंने कहा—"यदि मुझपर कोई संकट आवे, तो गणेशजी पहले आदमी होंगे, जो मेरी सहायता करेंगे, पर इतना मैं अवश्य कहूँगा कि गणेशजीकी सहृदयतामें वह भोलापन नहीं है, जो सत्यनारायणमें था।" वे सज्जन बोले—"ठीक है, पर गणेशजीको एक संस्थाका संचालन करना पड़ता है, यदि वे सत्यनारायण होते तो न संस्थाका संचालन कर पाते और न हम लोगोंकी सहायता।"

आज गणेशजी अपनी गौरवमय मृत्यु (Magnificient death) से उस उच्चस्थानको पहुँच गये हैं, जहाँ उनके सैकड़ों साथियोंका—हम सबका—जन्म-जन्मान्तरमें पहुँचना असम्भव है।

आज उस दीनबन्धुके लिए किसान रो रहे हैं। कौन उनकी उदरज्वालाको शान्त करनेके लिए स्वयं आगमें कूद पड़ेगा? मज़दूर पछता रहे हैं। कौन उन पीड़ितोंका संगठन करेगा? मवेशीखानोंसे भी बदतर देशीराज्योंके निवासी अश्रुपात कर रहे हैं। कौन उन मूक पशुओंको वाणी प्रदान करेगा? ग्रामीण अध्यापक रुदन कर रहे हैं। कौन उनका दुखड़ा सुनेगा और सुनावेगा? राजनैतिक कार्यकर्ता रो रहे हैं। कौन उन्हें आश्रय देकर स्वयं आफतमें फँसेगा? कौन उनके कन्धेसे कन्धे मिलाकर स्वातन्त्र्य संग्राममें चलेगा? और एक कोनेमें पड़े हुए उनके कुछ पत्रकार बन्धु भी अपनेको निराश्रित पाकर चुपचाप चार आँसू बहा रहे हैं। आपत्कालमें कौन उन्हें सहारा देगा? किससे वे दिल खोलकर बात कहेंगे? किसे वे अपना बड़ा भाई समझेंगे? और कौन छुटभइयोंका इतना खयाल रखेगा?

देशमें बहुतसे पत्रकार हुए हैं, हैं और होंगे। प्रभावशाली व्यक्तियोंकी भी कमी नहीं। लीडर भी बहुतसे हैं—शायद ज़रूरतसे ज्यादा। कईसे अपना परिचय भी है, कुछकी कृपा भी, पर गणेशजी-जैसा पत्रकारोंका सखा—उनके संकटका सहारा—दूसरा नहीं मिला। इस जीवनमें मिलनेकी आशा भी नहीं।

नार्वेका जीवन

मि० विलफ्रेड वेलॉक, एम० पी०

यदि आप देश-विदेशोंकी यात्रा करें, तो आप इस बातसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते कि भिन्न-भिन्न स्थानोंके सर्वसाधारणके जीवन-संघर्षमें कितना अधिक अन्तर है। उदाहरणके लिए कुछ देशोंमें ज़मीन उपजाऊ है, सूर्यकी किरणें और वर्षाकी बूँदें यथोचित अनुपातमें उसपर कृपा किया करती हैं, इसलिए वहाँ जीविकोपार्जन कठिन नहीं होता। दूसरी ओर ठंडे देशोंमें जहाँ सूर्यकी धूप बहुत थोड़ी और वर्षा तथा बर्फ बहुत अधिक होती है, वहाँ जीवन-संग्राम निश्चय ही बहुत कठोर है।

गत वर्ष मैंने अपनी स्त्रीके साथ नार्वेकी यात्रा की थी; वहाँके ऊबड़-खाबड़ पहाड़ोंपर चढ़ा था, उसकी खड्ड सदृश गहरी घाटियाँ देखी थीं और नार्वेके सुन्दर चित्र-सरीखे पहाड़ी समुद्र-तटमें जलयात्राका आनन्द प्राप्त किया था। अपनी इस यात्रामें मुझपर यह प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका कि नार्वेके अधिकांश लोगोंको जो जीवन व्यतीत करना पड़ता है, वह कितना कठोर है; परन्तु यह भी सत्य है कि प्रकट रूपसे वहाँके आम लोगोंको इस बातका पता ही नहीं मालूम होता कि उनका जीवन इतना कठोर है। उनमें से अधिकांशने कभी दूर स्थानोंकी यात्रा नहीं की है, इसलिए वे अपने कठोर जीवन तथा अन्य देशोंके निवासियोंके जीवनकी तुलना करनेमें असमर्थ हैं। नार्वेके निवासी चिन्ताशील और परिश्रमी हैं, इसीलिए उन्होंने अनेक आविष्कारों और तरीक़ोंसे तथा अपने चारों ओरकी प्राकृतिक शक्तियोंका उपयोग करके अपने जीवनकी कठोरताको कम करनेकी चेष्टा की है।

यह विचित्र देश इंग्लैण्डसे कहीं बड़ा है; मगर इसकी आबादी केवल पचीस लाख है। यदि आप इस देशमें घूमें और इसके कल्पनातीत समुद्र-तटका भ्रमण करें, तो आपको आबादीकी इस कमीका कारण मालूम हो जायगा। नार्वे पहाड़ों, नदियों, चट्टानोंका देश है, जिन्हें गहरे फिअर्डोंने (Fiords) * दूर तक—कहीं-कहींपर देशकी समूची चौड़ाईकी आधी दूरी तक—काट दिया है। सारा देश बड़ी-बड़ी झीलोंसे भरा और सैकड़ों वर्ष पुराने देवदारुके जंगलोंसे ढका है। "यहाँके लोग रहते कैसे हैं?" जो कोई यात्री यहाँके फिअर्डोंके बाहर-भीतरकी यात्रा करता है, उसके मनमें रह-रहकर यही प्रश्न उठता है। सब ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ खड़े हैं; तीन-तीन, चार-चार हज़ार फीट ऊँचे शिलाखंड गहरे नील समुद्रमें घुसे चले गये हैं। जहाँ कहीं मिट्टी है, वहाँ देवदारुके वृक्ष हैं। घाटियोंकी नीची तराईमें 'बीच', 'ऐश', 'बेत' (Beech, Ash, Birch) इत्यादिके वृक्ष हैं। स्थान-स्थानपर छोटे-छोटे हरे मैदान हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उत्तुंग चट्टानों, देवदारुके जंगलों और सुदूर हिम-मंडित शिखरोंका वैषम्य दिखाने और इस दृश्यपटको आभूषित करनेके लिए ही इन हरे मैदानोंकी सृष्टि की गई हो। नार्वेके पहाड़ बहुत ऊँचे नहीं हैं, उनमें से बहुत थोड़े ही ६००० फीटकी ऊँचाई तक पहुँचते होंगे; परन्तु नार्वे इतना अधिक उत्तरमें—ध्रुवके समीप—स्थित है, जिससे उसके पहाड़ोंपर यूरोपके सबसे बड़े बर्फीले मैदान मिलते हैं। मैंने स्वयं चार-पाँच हज़ार फीटकी ऊँचाईपर एक ऐसा बर्फका मैदान देखा था, जो प्रायः चालीस मील लम्बा था!

ऊपर कहे हुए छोटे-छोटे हरे मैदानोंमें ही नार्वेकी

---

* नार्वे-स्वीडेनका समुद्र-तट इतना अधिक कटा हुआ है कि वह प्रायः झालरसा हो गया है; अथवा यों कहिये कि जैसे चूहा किसी काग़ज़ या कपड़ेको काट देता है और उसके दांतोंके निशान उस चीज़पर बन जाते हैं, उसी प्रकार नार्वेका समुद्र-तट है और समुद्र-तटके इस कटावको 'फिअर्ड' (Fiords) कहते हैं।

—सम्पादक

नार्वेमें श्रोडाके समीपका एक झरना
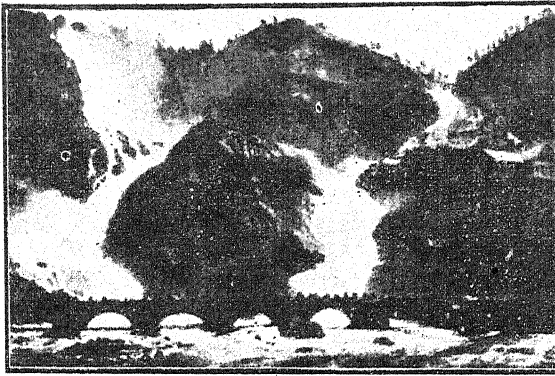
आबादीका अधिकांश भाग अपनी जीविका उपार्जन करता है। कृषियोग्य भूमिका एक-एक गज़ जोता-बोया जाता है। किसानोंके पास खेत कहलानेवाली ज़मीनें नहीं हैं, दस-बीस गज़का एक टुकड़ा यहाँ हैं और दस-बीस गज़का एक टुकड़ा वहाँ। कहीं-कहीं ज़मीनें इतनी छोटी है कि उनपर एक मकान बनाने लायक़ जगह भी नहीं है। फिर भी ये छोटे-छोटे टुकड़े बेकार नहीं छोड़े जाते। फिग्रर्डके मुहानोंपर कुछ अधिक खुला होता है, या कोई छोटीसी घाटी होती है, जिसमें आधे दर्जन मकान या एक छोटासा पुरवा बस सकता है। यहाँके लोग फिग्रर्डके तटके कोने-कोनेको जोता-बोया करते हैं। सभी किसानोंके पास किश्तियाँ होती हैं, जिनके द्वारा वे मछली मारा करते हैं, क्योंकि जीविका चलानेके लिए उन्हें समुद्रकी सहायताकी भी ज़रूरत होती है। नार्वेके समुद्रोंमें मछली इफ़रातसे हैं, और मछली मारना देशका एक मुख्य धन्धा है।

परन्तु ये पहाड़, चट्टानें और फिग्रर्ड भी अपने अन-उपजाऊपनका थोड़ा-बहुत प्रतिदान देते हैं। वे इतने सुन्दर और आतंकजनक हैं कि वे अन्य देशोंके लोगोंके लिए—खासकर अधिक उपजाऊ और कम कठोर जलवायुवाले स्थानोंके लोगोंके लिए—बड़े आकर्षणकी वस्तु हैं। इसलिए नार्वे यात्रियोंका एक बड़ा केन्द्र हो गया है। नार्वेके फिग्रर्डों तथा शहरोंमें आपको खास तौरपर अमेरिकन यात्रियोंकी काफी संख्या मिलेगी ; मगर साथ ही ब्रिटिश, जर्मन, डच और फ्रेंच यात्री भी कम न मिलेंगे। वास्तवमें यात्रियोंको ठहराना और उनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करना आजकल नार्वेका एक मुख्य रोज़गार हो रहा है। छोटे-छोटे स्टीमबोटोंकी एक बड़ी संख्या गरमी-भर यात्रियोंको उन भव्य फिग्रर्डोंकी सैर करानेमें व्यस्त रहती है। इन फिग्रर्डोंके शीर्षपर एक या अधिक होटल होते हैं, और जहाँ कहीं घाटीमें आने-जानेकी गुंजाइश होती है, वहाँ एक घोड़ेवाली अनेकों हल्की गाड़ियां मिला करती हैं। ये गाड़ियां तीन या चार आदमियोंको बिठलाकर किसी झरनेकी सैर कराती हैं अथवा घाटीमें घुमा-फिराकर दूसरे फिग्रर्डपर पहुँचा देती हैं, जहां यात्रियोंको दूसरा स्टीमबोट मिल जाता है। अधिकतर ये गाड़ियां स्थानीय किसानोंकी होती है, जिनसे उन्हें अपने परिवारकी आमदनी बढ़ानेमें मूल्यवान सहायता मिलती है। फिर यात्रियोंके खाने-पीनेमें भोजन भी खर्च होता है, जिससे किसानोंको अपनी गौशालाकी पैदावार, साग-सब्ज़ी, मछली आदि बेचनेकी सुविधा होती है।

लेकिन एक बात है। यदि इन गहरी घाटियोंमें यात्रियोंको आकर्षित करना है, तो उनके चलनेके लिए अच्छी सड़कें भी होनी चाहिए। अकसर इन सड़कोंके बनानेमें कम खर्च नहीं पड़ता। चौड़ी घाटियोंमें तो यह दस्तूर है कि घाटीके किसान लोग सड़कोंके लिए उत्तरदायी हैं। प्रत्येक किसानके ज़िम्मे एक निश्चित लम्बाईका सड़कका हिस्सा होता है। किसी-किसी घाटीमें, जगह-जगहपर, आपको सड़कके किनारे तख़्ती लगी मिलेगी, जिसपर उस किसानका नाम रहता है, जो सड़कके उस विशेष भागकी मरम्मतके लिए ज़िम्मेवार है। अन्य घाटियोंमें, जैसे फ्रामडलमें—जिनमें बहुत खड़ी चट्टानें हैं और जिनमें लटकती हुई शिलाओंसे चट्टानोंके गिरनेका खतरा बना रहता है और प्रत्येक वर्ष गरमीके आरम्भमें जब बर्फ पिघलती है, तब बड़ी-बड़ी चट्टानें अक्सर टूट-टूटकर गिरा करती हैं—स्थानीय अधिकारियों तथा सरकारको रास्ता साफ़ रखने, सड़कोंको अच्छी

दशामें रखने तथा जहां चट्टानोंके गिरनेकी सम्भावना हो, वहां पुश्ते आदि बनानेमें बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है।

खेती, मछली मारना तथा यात्रियोंकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके अतिरिक्त नार्वेमें जीविकाका एक और साधन जंगल हैं। यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि नार्वेके जंगलोंका विकास वैसे वैज्ञानिक और बुद्धिमत्तापूर्ण ढंगसे नहीं हुआ, जैसा स्वीडनमें हुआ है; मगर आजकल नार्वे इस विषयपर अधिक ध्यान देने लगा है। जंगलोंका प्रश्न आजकल बहुत गम्भीर हो रहा है। बात यह है कि इन सब जंगलोंकी लकड़ीसे काग़ज़ बनाया जाता है, और इस विषयके प्रामाणिक विशेषज्ञोंका कहना है कि यदि शीघ्र ही काग़ज़ बनानेके लिए कोई अन्य सामग्री न ढूंढ़ निकाली जायगी, तो अगले बीस-तीस वर्षमें संसारमें लकड़ीकी बहुत कमी पड़ जायगी। आमतौरपर लोग इस बातको नहीं समझते कि पाश्चात्य औद्योगिक देशोंके बड़े-बड़े समाचारपत्र किस ज़ोरोंपर इन जंगलोंका खातमा कर रहे हैं। उदाहरणके लिए, बहुतोंको इस बातका पता न होगा कि लन्दनके किसी बड़े दैनिक पत्रके—जिसका प्रचार दस लाख प्रति या उससे भी अधिक हो—एक ही अंकके प्रकाशनमें देवदारुके चार एकड़ जंगलकी लकड़ी स्वाहा हो जाती है। ज़रा सोचिये कि हमारे बड़े-बड़े पत्र-संघोंके पत्रोंके एक सप्ताहके अंकोंके प्रकाशनमें ही सैकड़ों एकड़ जंगल साफ हो जाते हैं। कैसी सत्यानाशी है! खासकर जब हम देखते हैं कि इन समाचारपत्रोंके अधिकांश भागमें क्या-क्या भरा रहता है, तब तो यह अपव्यय और भयानक मालूम होता है। यह प्रत्यक्ष है कि इस प्रकार लकड़ी काटनेका काम बराबर नहीं चल सकता, जब तक उसके साथ-साथ वैज्ञानिक ढंगसे नये वृक्षोंके लगानेकी व्यवस्था न हो। उदाहरणके लिए, स्वीडनने इस प्रश्नको अधिक अच्छी तरह हल किया है, वहां पेड़ उसी संख्यामें ही काटे जा सकते हैं, जिस संख्यामें नये वृक्ष उगकर तैयार हों।
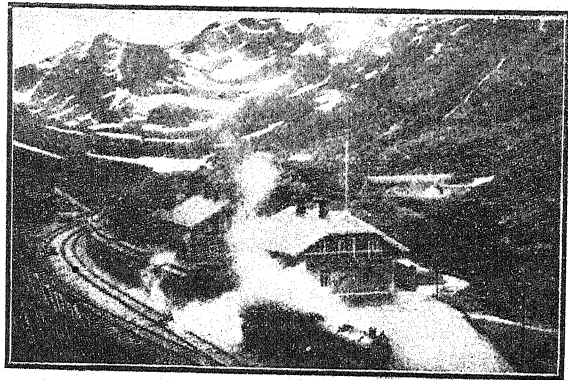
नार्वेकी राजधानी ओसलोके समीप रेलका दृश्य

नार्वेकी राजधानी ओसलोसे दो घंटेके रास्तेपर, चारों ओर देवदारुके जंगलोंसे घिरा हुआ एक छोटासा नगर हानेफास है। वहां मैंने स्वयं यह देखा है कि जंगलोंको काग़ज़के रूपमें परिवर्तित करनेका क्या अर्थ होता है। वहांकी मुख्य नदीके किनारोंपर काग़ज़ और काग़ज़का 'पल्प' बनानेके कारखाने हैं। नदीकी ऊपरी ओर, दूरीपर दल-के-दल मज़दूर पेड़ काटते हैं, उनकी डालें छांटते हैं और छाल उतारते हैं। इस प्रकार छिले हुए वृक्ष लकड़ीके बेड़ोंके द्वारा नदीकी राहसे लाये जाते हैं। कारखानोंके समीप आदमी रहते हैं, जो ज़रूरतके अनुसार लकड़ीको कारखानोंमें पहुँचाते हैं, और बाक़ीको इकट्ठा करके रखते जाते हैं, जो उस वक्त काममें लाई जाती है, जब किसी कारणसे जंगलसे माल आना बन्द हो जाता है। नदीसे ये लकड़ियां कारखानोंसे संलग्न तालाबोंमें लाई जाती हैं। वहांसे निकालकर मशीनकी सहायतासे वे चीरी जाती हैं, और उनके आवश्यक लम्बाईके टुकड़े कारखानेमें पहुँचाये जाते हैं। वहां लकड़ीके कुन्दोंकी चैली-चैली करके उन्हें पानीमें डालकर, बेलनोंसे दबाते और एक कीपनुमा बर्तनमें इकट्ठा करते हैं। फिर दूसरे बेलनों (रोलर) से दबाकर उसकी पतली तह जमाते हैं। बादमें इसीको काटते हैं और यह लकड़ीका 'पल्प' बन जाता है। यह 'पल्प' पैक किया जाता है और मैशीनके द्वारा अपने-ही-आप स्टेशनपर जा पहुंचता
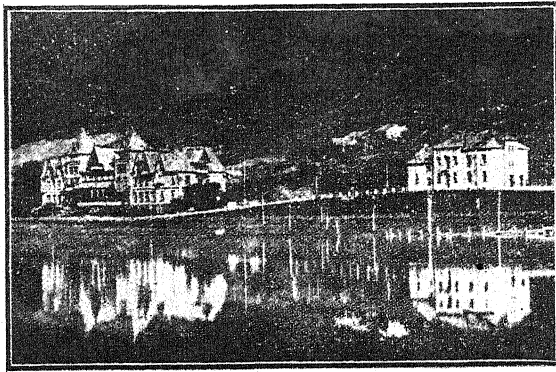
नार्वेमें समुद्रतटका एक होटल

है, जहांसे वह रेलके द्वारा जहाज़ तक पहुँचाया जाता है। जहाज़ोंपर लदकर पल्प लन्दन तथा अन्य स्थानोंको पहुंचता है। मैं एक कारखानेमें देखनेके लिए घुसा। यह सुनकर आश्चर्य हुआ कि इस कारखानेका मालिक इंग्लैंडके पत्रोंका एक संघ है। इसमें जितना 'पल्प' उत्पन्न होता है, वह सब उन्हीं अखबारोंमें खप जाता है। इस अनुभवसे मैं विचारमें पड़ गया। मैं सोचने लगा कि ये जंगल, जो सदियोंसे खड़े थे, एक ही रातमें काट डाले जाते हैं! सुन्दर, सुडौल वृक्ष कारखानोंमें ला पटके जाते हैं, जहांसे केवल कुछ ही घंटोंमें वे पल्पके बंडल बनकर निकलते हैं। फिर कुछ ही दिन बाद वे अखबारोंके रूपमें प्रकट होते हैं, जिनमें क्या छपता है, किसी नई आर्थिक जुआचोरीका क़िस्सा।

संसारके अन्य सब देशोंके किसानोंकी भांति नार्वेके किसानोंको भी अपनी स्वल्प जीविकाके लिए घोर परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु शहरों और क़सबोंमें रहनेवाले औद्योगिक मज़दूरोंका रहन-सहन अपेक्षाकृत ऊँचा है। नार्वेमें बेकारीकी समस्या बहुत कम है। वहां इंग्लैंडकी अपेक्षा मज़दूरीकी दर ऊँची है, परन्तु साथ ही चीज़ोंके दाम भी कुछ ऊँचे हैं। नार्वेकी दूकानों और मकानोंमें जानेपर आपको इस बातसे आश्चर्य होगा कि नई रोशनीकी पहुँच यहां तक हो गई है! इस देशके जीवनमें बिजली जितना भाग लेती है, उसे देखकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा। यहाँ तक कि सुदूर गांवोंमें भी बिजलीकी रोशनी होती है, और उनका काम काज बिजलीसे हुआ करता है। काग़ज़के तमाम कारखाने, जिनका मैंने ऊपर जिक्र किया है, बिजलीसे ही चलते हैं। बात यह है कि नार्वे झरनोंका देश है, और यहांवालोंने यह सीख लिया है कि पानीकी शक्तिसे कैसे बिजली बनाकर उसे लाभदायक रूपमें परिणत किया जा सकता है। इतनेपर भी अनेक बड़े-बड़े झरने ऐसे हैं, जिनकी शक्ति अभी तक काममें नहीं लाई गई है। देखनेवालोंको ऐसा प्रतीत होता है कि नार्वेके झरनोंमें इतनी शक्ति है, जो आधे यूरोप महाद्वीपको विद्युन्मय बना सकती है।

मगर नार्वे चाहे जो करे, फिर भी वह अपनी आबादीकी एक परिमित संख्याके लिए ही जीविकोपार्जनके साधन जुटा सकता है। इस प्रकार उसकी जनसंख्याके एक बड़े अंशको दूसरे देशोंमें जाकर बसना पड़ेगा। नार्वेके लोगोंमें अधिकांशका जन्म समुद्रके तटपर ही होता है, अतः वे समुद्रके बड़े प्रेमी होते हैं। अगर आप किसी लड़केसे पूछिये कि वह क्या करेगा, तो अधिकतर यही उत्तर मिलेगा—"समुद्र-यात्रा।" नार्वेवाले बहुत अच्छे मल्लाह होते हैं। अपने परिश्रमी जीवनके कारण वे प्रवासी भी अच्छे होते हैं। अमेरिकामें—यूनाइटेड स्टेट्स और कैनाडा—दोनों जगहोंमें स्कैन्डीनेवियन प्रवासी मशहूर हैं। वे मेहनती, ईमानदार, सीधे-सच्चे और भले आदमी होते हैं। वे अप्रीतिकर रूपसे उग्र भी नहीं होते। सुदूर दुर्गम घाटियोंमें उत्पन्न होनेके कारण वे मितभाषी और काफ़ी मानसिक और नैतिक शक्तिवाले होते हैं। वे चिन्ताशील, होशियार और धैर्यवान होते हैं। इसके अतिरिक्त वे हँसमुख स्वभावके होते हैं। आमतौरपर उनका गला मधुर होता है। खास करके वहांकी स्त्रियोंकी आवाज़ बड़ी सुरीली होती है, और वे उसे बड़े मनोहारी ढंगसे बढ़ाती हैं। आप यदि यह न भी समझते हों कि वे क्या बात कर रही हैं, तो भी केवल उनका मधुर स्वर सुननेके लिए ही आपको रुक जाना पड़ता है। नार्वेवाले दूसरोंको कृतज्ञ करनेके लिए सदा तत्पर रहते हैं और कमीनी बातोंके

प्रति उनका झुकाव भी नहीं रहता। वे अपनी स्वतन्त्रताकी स्पिरिटको क़ायम रखते हैं। जिन लोगोंको अपनी जीविकाके लिए यात्रियोंके ऊपर निर्भर करना पड़े, उनके लिए अपने इस गुण—स्वतन्त्रताकी 'स्पिरिट'—को क़ायम रखना बहुत कठिन होता है।

नार्वेका सबसे बड़ा शहर उसकी राजधानी 'ओसलो' है, जिसकी जनसंख्या अढ़ाई लाख है। एक लाखकी आबादीका बर्गेन दूसरे नम्बरपर आता है। बाक़ी जितने नगर हैं, वे प्राय: बहुत छोटे हैं। इस प्रकार नार्वेकी आबादी मुख्यत: देहातमें रहती है।

मुझे यह जानकर हर्ष हुआ कि सारे संसारमें जिस प्रकारकी हवा चल रही है, इस सुदूर नार्वेपर भी उसका कितना अधिक प्रभाव पड़ रहा है। मुझे यह जानकर आश्चर्य और प्रसन्नता हुई कि आजकल इंग्लैण्डमें साधारण बातोंका रुख जिस प्रकार है, ठीक उसी प्रकारका नार्वेमें भी मौजूद है। यहाँकी पार्लामेन्टके १५० मेम्बरोंमें से कमसे कम ६० साम्यवादी दलके हैं। ओसलोकी म्यूनिसिपैलिटीके आधे सदस्य साम्यवादी हैं। यहाँ तक कि होनेफासके कागज़के कारखानेवाले, जिनका ज़िक्र मैं ऊपर कर आया हूँ, स्थानीय अधिकारियोंसे मकान किरायेपर लेते हैं और बिजली खरीदते हैं। ओसलोके सिटी आर्केटेक्टने मुझे म्यूनिसिपैलिटी द्वारा बनवाये हुए मकान—लोगोंके रहनेके लिए—तथा स्कूल आदि दिखलाये। वहाँ हमने जो कुछ देखा, उसे देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। इन नवीन मकानोंके डिज़ाइन बड़े सुन्दर हैं, और उन्हें कलापूर्ण बनानेका भी काफी ध्यान रखा गया है। उनके इधर-उधर ऐसे सुन्दर बग़ीचे हैं, जैसे मैंने पहले कभी न देखे थे। उन बग़ीचोंके कारण उन मकानोंकी—वासस्थानके रूपमें—पचास प्रतिशत सुन्दरता बढ़ गई है। इस प्रयत्न—यानी सम्पत्तिको राष्ट्रकी सम्पत्ति बनाने—की नैतिकता तथा सुरुचिकी दृष्टिसे जितनी तारीफ

नार्वेकी दो मा-बेटी

की जाय, थोड़ी है। ये मकान बिजलीकी नवीनतम वस्तुओंसे सुसज्जित तथा सफाईकी सुविधाओंसे पूर्ण हैं। देशकी सम्पत्तिपर सार्वजनिक नियंत्रणके औचित्यका इससे बढ़कर कोई उदाहरण नहीं हो सकता; मगर जनसाधारणका नियंत्रण केवल मकानों ही पर नहीं, और भी कई चीज़ोंपर हैं। ओसलोमें एक राष्ट्रीय थियेटर भी है। इस थियेटरमें हमने सुन्दर एक्टिंग देखी थी। यहाँ टिकटोंका मूल्य भी बहुत उचित था।

हम लोग नार्वेका सुन्दर देश, पहाड़, ऊँची चट्टानें, फ़िअर्ड, झील और ग्लेशियर देखनेके लिए और छुट्टी मनाने ही के लिए नार्वे गये थे; परन्तु हमें वहाँके लोगोंसे बड़ी प्रसन्नता हुई, और यह देखकर बड़ी प्रेरणा मिली कि यूरोपके इस सुदूर सुनसान भागमें भी वही शक्तियाँ कार्य कर रही हैं, जो अदूर भविष्यमें हमारी सारी सभ्यताका पुनर्गठन करनेवाली हैं।

सूरदास

श्री सुदर्शन

सूरदास कौन था ? कहाँका रहनेवाला था ? उसका असली नाम क्या था ? यह किसीको भी मालूम न था, न वह अपना असली हाल किसीको सुनाता था। अगर कोई पूछता, तो उत्तर देता—"भैया ! पापी जीव हूँ, हाल क्या सुनाऊँ ? गंगा मैयाकी शरण आ पड़ा हूँ, प्राण निकल जाये, तो रामका नाम लेकर बहा देना।" इससे अधिक बातचीत वह अपने सम्बन्धमें कभी न करता था, परन्तु वास्तवमें वह ऐसा तुच्छ न था। उसके आनेसे काशीकी रौनक़ बढ़ गई। दशाश्वमेध घाटमें तो जैसे जान-सी पड़ गई। प्रात:काल चार बजे उठता और तम्बूरा लेकर बैठ जाता था। तम्बूरा बजाता था और हरि-भजन गाता था। उसका आलाप सुनकर लोग मंत्रमुग्धसे हो जाते थे। उसके चारों तरफ़ लोगोंकी भीड़ लग जाती थी। जब वह असार संसारके वैराग्यसूचक गीत गाता था, उस समय वह साधारण अन्धा मालूम न होता था। ऐसा मालूम होता था, मानो कोई उच्चकोटिका दार्शनिक विद्वान् संसारकी असारतापर व्याख्यान दे रहा हो। उसका एक-एक शब्द श्रोताओंके हृदय-पटपर अंकित हो जाता था। लोग उसके गानोंमें तन्मय हो जाते थे। वह अनाड़ी गवैया न था, राग-विद्याका पूरा उस्ताद था। स्त्री, पुरुष, बच्चे सब उसकी प्रशंसा करते थे। कोई उसे पैसा देता, कोई फल, कोई आटा और कोई कपड़ा; परन्तु वह कभी किसीसे कुछ माँगता न था। नेत्र-धनसे विहीन था, आत्म-गौरवकी सम्पत्तिसे विहीन न था। कोई दे या न दे, इसकी उसे चिन्ता न थी, पर लोग उसे उसकी आवश्यकतासे भी अधिक देते थे। दोपहर होते-होते उसके आगे पैसों और खाद्य-पदार्थोंका ढेर-सा लग जाता था। जब घाट लोगोंसे खाली हो जाता, तो वह अपने गाने-बजानेकी कमाईको समेटकर गिनता, और तब इतनी ऊँची आवाज़से जैसे कोई किसीको सुना रहा हो, कहता, यह तो बहुत है, क्या करूँगा। उसे आजकी परवा थी, कलकी परवा न थी। गंगा-घाटके लोभी साधु उसके पास आकर कहते—'सूरदासजी ! हमें तो कुछ भी न मिला, टापते रह गये। आज भूखा रहना पड़ेगा।' फिर एक लम्बी साँस छोड़कर कहते—'कलियुगका जमाना है, यात्रियोंके दिल पत्थर हो गये ! नहाते हैं, चले जाते हैं। हमारी ओर कोई फूटी आँखों भी नहीं देखता।'

सूरदास उनकी बातें सुनता और अपने खानेभरके लिए रखकर शेष उन्हें बाँट देता था। ऐसे, जैसे कोई लखपती हो, जैसे उसे किसी वस्तुकी आवश्यकता ही न हो। और यह उस ग़रीबका हाल था, जो स्वयं रोटीके एक-एक टुकड़ेका मोहताज था, जिसकी सकल सम्पत्ति तम्बूरा, एक लकड़ी और चन्द चिथड़े थी। उसको यों फटेहालों देखकर कौन कह सकता था कि उसके सीनेमें राज-हृदय धड़क रहा है, कितना महान्, कितना विशाल। बाहरकी दीवारोंपर निराशा छाई हुई थी, भीतर संगमरमरका महल खड़ा अपनी विभूतिपर हँस रहा था, जिसे देखते ही हृदय-कमल खिल जाय; पर उसे देखनेवालोंकी संख्या कितनी थी ?

[२]

इसी तरह कुछ वर्ष बीत गये। सूरदास अपनी अँधेरी दुनियाकी अन्धकारमयी और कभी समाप्त न होनेवाली लम्बी रातमें उसी तरह सन्तुष्ट था। शायद संसारके इस सबसे बड़े दुर्भाग्यकी ओर उसका ध्यान ही न था। संसारके सुखोंसे दूर, प्रकाशके सुषमापूर्ण दृश्योंसे परे, प्रेम और यौवनके मद-भरे चित्रोंके दर्शनसे वंचित होनेपर भी उसके जीवनमें इतना सन्तोष, इतना आनन्द

था, जो राजमहलोंमें बादशाहोंको प्राप्त नहीं। वहाँ सहस्रों चिन्ताएं होंगी, यहाँ एक भी न थी। सूरदास दिनको गाता था, जैसे पंछी फलोंकी डालियोंपर चहकता है ; रातको घाटकी सीढ़ियोंपर पाँवको फैलाकर सो रहता था, जैसे छोटा बच्चा नींद आनेपर जहाँ हो, वहीं सो जाता है। उसे यह विचार भी नहीं आता कि कहीं सन्दूकका ताला खुला न रह गया हो, कहीं घरमें चोर न घुस आयें। जीवन-सुखके ये लुटेरे बच्चोंके अकंटक-संसारमें पाँव भी नहीं रख सकते। मनुष्य-रुधिरके प्यासे ये भेड़िये बच्चोंके सामने आकर पालतू कुत्ते बन जाते हैं, जो दुम हिलाते हैं, पाँव चाटते हैं, काटते नहीं। यही दशा सूरदासकी थी। उसका स्वभाव बालकोंके समान सरल था। उसकी आवश्यकताएं हाथ न फैलाती थीं, न विफल होकर ठंडी आहें भरती थीं। उसकी सृष्टि आहार, निद्रा तथा गाने-बजाने तक परिमित थी। इससे आगे न वह आशाकी खोजमें जाता था, न निराश होकर खूनके आँसू रोता था। सन्तोषका इससे अधिक प्रत्यक्ष, ज्वलन्त, जीता-जागता उदाहरण किसीने कम देखा होगा।

रातका समय था। आकाशके तारे गंगाकी लहरोंपर नाचते फिरते थे। सूरदास घाटकी सीढ़ियोंपर लेटा हुआ एक साधुसे बातचीत कर रहा था।

साधु—"सूरदासजी! आज तो बड़ा गरम है। अपने रामकी मरजी है कि जल ही में खड़े रहें, बाहर न निकलें।"

सूरदास—"बरखा होनेवाली है। आज तारे क्या निकले होंगे। बादल घिरा होगा। ज़रूर बरसेगा। हुम्मास हो रहा है।"

साधु—"नहीं, सूरदासजी! तारे निकले हुए हैं। जो भागवान हैं, वे घरोंमें छत्तोंपर लेटे होंगे। नौकर खुशामद करते होंगे। एक हम हैं कि यहां परालब्धको रो रहे हैं।"

सूरदास—"भगवानका नाम लो। उनको हज़ारों फिकिर हैं। बताओ, तुम्हें क्या फिकिर है ; बड़े मज़ेमें हो महाराज। उस ज़िन्दगीमें जाकर चार दिन न रह सकोगे। मेरा खयाल है कि दो दिनमें भाग आओगे।"

साधु (मुसकराकर)—"नहीं सूरदास! वह ज़िन्दगी बड़ी अच्छी है। यह ज़िन्दगी नहीं, ज़िन्दगीका मजाक है। दिन पूरे कर रहे हैं।"

सूरदास—"तो जाओ, कोई राँड़ ढूँढ़कर शादी कर लो। जब तुम्हारे मनकी तृष्णा नहीं मिटी, तो गेरुये कपड़े पहनना बेफायदा है।"

साधु—"आज एक सेठ आया था। सबको एक-एक धोती दे गया। जब हम पहुँचे, तो धोतियाँ ही खतम हो गई। हम मन मारकर रह गये! कहा, जा साले, तेरी आशा कभी पूरी न हो। तुम्हें भी मिली होगी, गये थे या नहीं?"

सूरदास—"मुझे ज़रूरत ही न थी।"

साधु—"अब जातरी कम आने लगे। पहले तो भीड़ लगी रहती थी। अब नशा-पानी भी मुश्किलसे होता है।"

सूरदास—"पर वह साधु ही क्या, जिसे नशेका शौक़ हो। साधु तो वह है, जो रामका भजन करे।"

साधु—"अब तो, सब आरिये बन गये। जिसे देखो, नमस्ते-नमस्ते कर रहा है। न किसीमें प्रेम है, न किसीमें सरधा।"

सूरदास (बातका रुख बदलनेके लिए)—"बड़ी गरमी है। आज नींद नहीं आयेगी।"

साधु—"अगर कुछ दिन यही हाल रहा, तो हम भूखों मरेंगे। कोई मुट्ठी-भर धान भी न देगा।"

सूरदास (अपनी लाठीको टटोलकर)—"हमें परमेसर देगा भाई। पुरसकी क्या औकात है? हम तो मर जायँ, पर किसीके सामने हाथ न फैलायें। हमें तो माँगते हुए सरम लगती है। ऐसा मालूम होता है, जैसे किसीने हिरदेपर मुक्का मार दिया। भूखा पड़ा रहना मंजूर, पर माँगना मंजूर नहीं।"

साधुने चिलमपर आग रखी और सूरदासकी ओर घृणासे देखकर कहा—"तुममें यह दम होगा। सूरदास! अपने रामसे तो क्षुधा नहीं सही जाती। बिना मांगे कौन साला देता है।" यह कहकर साधु चिलम पीने लगा।

सूरदास—"भगवान देता है और कौन देता है ? पर तुम भगवानसे मांगते ही नहीं हो।"

साधुने कुछ चिढ़कर उत्तर दिया—"तुम भी तो लोगोंके सामने ही गाते हो। भगवानके सामने क्यों नहीं गाते ? खानेको मिल जाता है, तो चले हैं उपदेश करने। दो दिन भूखे रहो, तो होस ठिकाने आ जायं। और क्या ?"

परन्तु सूरदास अब भी सन्तुष्ट था। मुसकराकर बोला—"हम तो भगवानके सामने ही गाते हैं, सुननेको कोई सुन ले। इससे हमको कोई मतलब नहीं।"

अकस्मात् एक दूसरे साधुने आकर कहा—"क्यों सूरदास, क्या कर रहे हो ?"

सूरदास उठकर बैठ गया और अपने तम्बूरे और लाठीपर हाथ फेरकर बोला—"बातचीत कर रहे हैं महाराज ! आइये, बैठिये, बड़ी गरमी है, शरीर फुंका जाता है।"

बूढ़ा—"नहीं सूरदास, बैठनेका वक्त नहीं, आज एक अद्‌भुत घटना हुई। घाटपर किसीका बालक रह गया है। तीन-चार सालकी आयु होगी। बहुत खोज की, पर उसके माता-पिताका कहीं पता नहीं लगता। बताओ, क्या करें ? बड़ा प्यारा बच्चा है।"

सूरदास (बेचैन होकर)—"रो रहा होगा ?"

बूढ़ा—"रोता तो इस तरह है कि तुमसे क्या कहूँ। बाबू ! बाबू ! कहकर चिल्ला रहा है। उसे रोते देखकर मेरा हृदय हिल जाता है। मा-बाप भी कैसे बेपरवा होते हैं ! न मिले, तो क्या करें, आयु-भर रोते रहें।"

सूरदास लाठी लेकर खड़ा हो गया और अन्धी आँखोंकी पलकें झपककर और गर्दन हिलाकर बोला—"ढूँढ़ रहे होंगे, शायद अभी आ जायँ।"

बूढ़ा—"लाख पुचकारते हैं, मिठाइयाँ देते हैं, परन्तु ज़रा चुप नहीं होता। बराबर रोता जाता है। बताओ, क्या करें।"

सूरदास (मुसकराकर)—"मेरे पास आ जाय, तो (चुटकी बजाकर) एक मिनटमें चुप हो जाय। क्या मजाल जो ज़रा भी रो जाय।"

बूढ़ा—"वाह ! सूरदास, तुम तो छिपे रुस्तम निकले। तो चलो, चलकर ले आओ।"

आगे-आगे बूढ़ा चला, पीछे-पीछे सूरदास। एक मिनटमें दोनों घाटके दूसरे सिरेपर जा पहुँचे, जहां बालक फूट-फूटकर रो रहा था। सूरदासने जाते ही लाठी ज़मीनपर रख दी और हाथ फैलाकर कहा—"लाओ तो इसे मेरे पास—आ बेटा, मेरे पास आ।" यह कहकर उसने बालकको उठा लिया और गलेसे लगाकर उसके सिरपर हाथ फेरने लगा, ऐसे जैसे मा अपने बच्चेसे प्यार कर रही हो, ऐसे जैसे पिताने अपने बिछुड़े हुए बच्चेको पा लिया हो। बालकने पहले तो आश्चर्यसे सूरदासकी ओर देखा। शायद वह सोच रहा था कि यह कौन है ? परन्तु दूसरे ही पलमें उसने अपना सिर उसके कन्धेपर रख दिया और धीरे-धीरे सिसकने लगा, मानो घबराये हुए बालकको माकी गोदमें आश्रय मिल गया। वह कुछ देर सिसकियाँ भरता रहा। इसके बाद चुप हो गया। सच्चे प्रेमके राज्यमें रोने-धोनेका अवकाश कहाँ ?

[३]

दूसरे दिन प्रात ही सूरदास हलवाईकी दुकानपर खड़ा हलुआ पूरी माँग रहा था। लोग देखते थे और हैरान होते थे। यह वही सूरदास था, जिसने किसीके सामने कभी हाथ न फैलाये थे। जो कहता था, मरता मर जाऊँगा, कभी मुँहसे न मांगूँगा। आज उसकी यह टेक कहाँ चली गई थी ? आज उसके आत्माभिमानको क्या हो गया था ? गंगाघाटके साधुओंने कहा—"सूरदास ! यह कायापलट कैसी ? एक ही रातमें क्या-से-क्या हो गये।"

सूरदासने अपने दृष्टिहीन नेत्रोंसे उनकी ओर देखा और पलकें झपककर कहा—"भैया ! एक ही दिनकी बात तो है। आज सायंकाल तक इसके मा-बाप आकर ले जायँगे।" यह

कहकर उसने बच्चेको सीनेसे लगा लिया और उसका सिर चूम लिया।

परन्तु साँझ हो गई और बच्चेको लेने कोई न आया। दो-तीन दिन और इसी तरह बीत गये, फिर भी कोई न आया। दिन सप्ताहोंमें बदल गये। बालक, जिसे सूरदास 'दीपक' कहता था, उससे हिल-मिल गया। कभी उसकी गर्दनपर सवार हो जाता, कभी गोदमें आकर बैठ जाता, कभी तम्बूरेको आकर छेड़ता, कभी लकड़ी लेकर भाग जाता। सूरदासको उसकी ये बालोचित क्रीड़ाएँ बड़ी प्यारी लगती थीं। क्या मजाल जो कोई उसे ज़रा भी डाँट जाय। अब दोपहरके समय वह अपने गाने-बजानेकी कमाई साधुओंमें नहीं बाँटता था, न गाते समय अब वह सन्तोष प्रकट करता था। अब उसे जितना मिलता, उतना ही कम था। जैसे अब यह सूरदास वह सूरदास न था। उसकी आमदनी अब पहलेसे बढ़ गई थी, परन्तु उसके चित्तका वह सन्तोष कहाँ था? जब वह गाता, बालक अपनी मोटी-मोटी आँखोंसे लोगोंकी ओर देखा करता। लोग पूछते—'यह बच्चा कौन है?' सूरदास कहता—'हज़ूर किसी भागवानका पुत्र है। सोचता हूँ, इसे तकलीफ न हो। क्या याद करेगा।' लोग कहते—'सूरदास! इसे ज्यादा सिर न चढ़ा, बिगड़ जायगा।' सूरदास किसी विचारसे सहमकर ठंढी साँस भरता और गिड़गिड़ाकर उत्तर देता—'सरकार परमेसरने चार दिनके लिए पहुना भेजा है। मेरे पास हमेशा थोड़ा बैठा रहेगा। शायद आज ही इसके मा-बाप आ जायें और इसे ले जायें। आपसे आप सुधर जायगा। मैं तो यह सोचता हूँ, इसका मन मैला न हो। जब यह उदास होकर चुपचाप बैठ जाता है, तो मेरे कलेजेमें तूफान-सा उठ खड़ा होता है। जाने किसका बेटा है। वहां जाने इसकी कैसी-कैसी खुशामदें होती होंगी। जाने कैसे-कैसे नौकर खिदमत करते होंगे। यहां एक अन्धेके सिवा इसका कौन है? मैं भी डाँट-डपट करने लगूँ, तो इसका हिरदा मुरझा जाये। अब कैसा चहकता फिरता है। फिर सिर भी न उठायेगा।'

परन्तु बारह वर्ष गुज़र गये और 'दीपक' को लेनेके लिए कोई न आया। सूरदासने समझ लिया, अब यह मेरे ही सिर पड़ा। अब वह रातको घाटपर नहीं सोता। उसने नगरमें एक छोटासा मकान किरायेपर ले लिया है। वहाँ सभी आवश्यक वस्तुएँ हैं। दरी है, पलंग है, बर्तन हैं, सन्दूक है, टाइमपीस है, एक मेज़ और कुरसी है, शीशा और कंघी है, एक लैम्प भी है; किन्तु यह सब कुछ दीपकके लिए है। सूरदासके लिए कुछ भी नहीं। वह अब भी वही सूरदास है। उसी तरह भीख मांगता है। हाँ, लोभी बहुत हो गया है। अब उसके उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गये हैं। पहले स्वतन्त्र था, अब गुलाम है। पहले निश्चिन्त होकर सोता था, अब रातको चौंक-चौंककर उठ बैठता है। घाटपर प्रातः ही पहुँच जाता है। बड़ी मेहनतसे गाता है। मिन्नतें कर करके मांगता है। जब तक रुपया सवा रुपया न मिल जाये, उठनेका नाम नहीं लेता। कभी उसके लिए रुपया मिट्टीके बराबर था, अब कौड़ी-कौड़ीको दाँतोंसे पकड़ता है। क्या मजाल जो किसीको एक पैसा भी दे जाय। हाँ, दीपकके लिए उसकी जान भी हाज़िर है। उसके लिए अच्छी-से-अच्छी वस्तुएँ खरीदता है, और उसे देकर खुश होता है। दीपक नवीं श्रेणीमें पढ़ता है। सूरदास उसे अपने हाथसे खाना बनाकर खिलाता है और स्कूल भेजता है। उसके पश्चात् फिर घाटपर जा बैठता है और मांगता है। परन्तु तीन बजेसे पहले घर पहुँच जाता है, ताकि दीपकको स्कूलसे आते ही पीनेके लिए दूध मिल जाय। रातको वह लैम्पके सम्मुख बैठकर पढ़ता है, सूरदास दरीपर लेटकर अपने दिलसे बातें करता है। कभी-कभी दीपकको पुकारकर देख भी लेता है कि सो तो नहीं गया। सो जाय, तो उठाकर बैठा देता है, और कहता है—'पढ़।' रातको सोते समय उसे दीपक ही के खयाल आते हैं। जब जाग उठता है, तो सोचता है, यह नौकर हो जाय तो इसका ब्याह कर दूँ। घाटपर एक साधुनी बैठती है। उसके एक बारह-तेरह सालकी कन्या है। लोग कहते हैं, वह

देखने-सुननेमें भी अच्छी है। उसका कंठ बड़ा सुरीला है। गाती है तो समां बँध जाता है। सूरदास चाहता है, उसका दीपकसे ब्याह हो जाय। वह भी बहूवाला बन जाय। उसे भी अपने हाथसे खाना पकाना न पड़े। सोचता, बैठा हुक्म चलाया करूँगा। ज़रासा भी बात इच्छा-विरुद्ध हो जाय, तो रूठ जाया करूँगा। दोनों मनायँगे, जब मानूँगा; मगर हाँ, घाटपर जाना, बन्द कर दूँगा। नहीं, लोग दीपकको बुरा-भला कहेंगे।

ये आशाएँ कितनी प्राणपोषक थीं, कितनी उल्लासमयी! सूरदासको ऐसा मालूम होता था कि यह अन्धकारमयी सृष्टि जगमगा रही है, जैसे उसके नेत्र खुल जानेवाले हैं, जैसे उसका संसार बदल जानेवाला है। अब तक भीख मांगता था, अब राज-सिंहासनपर बैठ जायगा। इस विचारके आते ही उसके दिलका कमल खिल जाता था। उसकी तबीयत हरी हो जाती थी। साधुनीको भी यह सम्बन्ध पसन्द है। फकीरकी कन्याको उससे अच्छा वर और कौन मिलेगा? आज नवीं कक्षामें पढ़ता है। कल दसवीं पास करके कहीं नौकर हो जायगा और बाबू कहलायेगा। लड़की राज करेगी। साधुनी उस समयका विचार करते ही एकदम भावोंके स्वर्गमें पहुंच जाती थी। हमारी वर्तमान दशा कैसी भी शोचनीय क्यों न हो, परन्तु हमारे भविष्यको आशाकी ज्योतिसे खाली किसने किया है? निराशापूर्ण भविष्य मनुष्यको आत्मघात करनेपर तय्यार कर देता है।

[४]

परन्तु सूरदास ही को दीपकसे स्नेह न था। दीपकको भी सूरदाससे प्यार था। स्कूलसे आता, तो 'दादा, दादा' कहकर उसके गलेसे लिपट जाता था। उसे खाना पकाते देखकर उसे हार्दिक कष्ट होता था। उसका घाटपर जाना तो अब उसे असह्य होता जाता था। यदि उसके बसमें होता, तो एकदम बन्द कर देता। प्रायः कहा करता—"दादा, मुझे नौकर हो जाने दो, फिर क्या मजाल, जो घाटपर तुम पाँव भी धर जाओ। जो कमाऊँगा, तुम्हारे हाथमें दूँगा। जैसा चाहो, खर्च करना। मैं ज़रा दखल न दूँगा। सब बुरा-भला तुम्हारे हाथमें होगा। मुझे केवल दोनों समय पेट भरनेको मिल जाय। मुझे और कुछ न चाहिए।"

एक दिन सूरदासने कहा—"दीपू, अब यदि तुम्हारा पिता आ जाय, तो क्या करोगे? मैं जानूँ, खुशीसे साथ चल दो। मेरा विचार भी न करो। जाने फिर कभी याद भी करो या न करो।"

दीपकने सूरदासकी ओर प्रेम और रोषकी मिली-जुली दृष्टिसे देखकर उत्तर दिया—"दादा! ऐसी बातें न करो, नहीं मैं रो दूँगा। अब मेरे माता-पिता सब तुम ही हो और कोई नहीं। जिस प्रेमसे, जिस वात्सल्यसे मुझे तुमने पाला है, ऐसे प्रेमसे कोई पिता भी अपने पुत्रको क्या पालेगा। मैं तुम्हें पिता ही समझता हूँ। मुझे स्वप्नमें भी कभी यह विचार नहीं आता कि तुम मेरे पिता नहीं हो।"

सूरदासके दृष्टि-विहीन नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। उसने अपनी दोनों भुजायें फैला दीं। दीपकके हाथमें पुस्तक थी, वह उसे ज़मीनपर पटककर सूरदासके गलेसे लिपट गया, और रोते-रोते बोला—"दादा! फिर ऐसी बात न कहना, मुझे दुःख होता है।"

सूरदासने दीपकके मुँहपर प्यारसे हाथ फेरा, और अधीर होकर पूछा—"अच्छा बता, यदि तेरा पिता आ जाय, तो तू जाय या न जाय? जो वह बहुत भाग्यवान हो, बड़ा धनाढ्य हो, बड़े इक़बालवाला हो, बोल, क्या करे? मुझ अन्धे फकीरका खयाल करे या उसका, साफ-साफ कह।"

दीपकने तड़से उत्तर दिया—"सच कहता हूँ दादा! यदि वह लखपती हो, जब भी परवा न करूँ। किसी रियासतका राजा हो, जब भी न जाऊँ। मेरे लिए जो तुमने किया है, वह कोई किसीके लिए कम करेगा। अगर तुम न होते, तो मैं रो-रोकर मर जाता। कोई रोटीका टुकड़ा भी न फेंकता। दादा! इसमें तनिक भी झूठ नहीं है। मैं चाहता हूँ, मेरे

पिता मुझे लेने न आवें। मैं यह घर कभी न छोड़ूँगा।"

सूरदास--"अरे, यह घर ! इसमें क्या धरा है, मूरख कहींका !"

दीपक--"जो इसमें है, बड़े राजमहलोंमें नहीं है दादा !"

सूरदासका हृदय-कमल खिल गया। प्रसन्न होकर बोला--"अरे ! इसमें क्या है। तुम्हारे रहने लायक़ भी तो नहीं है।"

दीपक--"वाह ! रहने लायक़ क्यों नहीं है ? इसमें तुम हो, तुम्हारा स्नेह है। इससे ज्यादा संसारमें और मुझे क्या चाहिए। मुझे यदि कोई स्वर्ग भी दे, जब भी यहाँसे न जाऊँ। दादा ! तुम्हें शायद विश्वास न हो, मुझे इस घरकी एक-एक वस्तु प्यारी है। ऐसा मालूम होता है, जैसे यहांका चप्पा-चप्पा मेरा मित्र है। मुझे इसकी एक-एक ईंट प्यारी लगती है।"

सूरदासको ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसीने उसे आकाशपर चढ़ा दिया है। इस समय वह उस ग़रीब, मांगकर खानेवाले, गंगाघाटपर बैठकर तम्बूरा बजानेवाले अन्धे फ़क़ीरसे कितना भिन्न, कितना परे था। उसके दिलमें आनन्दकी लहरें उठ रही थीं। अब उसका परिश्रम सफल होनेको था। अब उसको अपनी तपस्याका फल मिलनेको था। आज अन्धेकी अन्धेरी दुनियामें आशाका दीपक जल रहा था। उसने दीपकको गलेसे चिमटा लिया और खुशीसे रोने लगा।

[५]

दो वर्ष और बीत गये। दीपकने एन्ट्रेन्सकी परीक्षा पास कर ली। और कालेजमें भरती हो गया। सूरदास किं कर्त्तव्यविमूढ़ था--क्या करें, क्या न करें। उसकी भिक्षा-आय तीस-पैंतीससे अधिक न थी। और इस आयसे कालेजके विद्यार्थीका निर्वाह होना कठिन था। इस समस्याने उसे हैरान कर दिया था। वह दीपकको समझाता--"बेटे, कहीं नौकरी कर ले, अब मुझसे घाटपर नहीं बैठा जाता।' दीपक उत्तर देता--'दादा, इतनी पढ़ाईको कोई पूछता है। कोई बीस-पचीस रुपयेसे भी अधिक न देगा। इससे हमारा निर्वाह कभी न होगा। एफ़० ए० पास कर लूँ, तो चालीस-पचास कहीं गये नहीं हैं। किसी तरह दो साल निकल जायँ, तो सारी उम्रका रोग कट जाय।' युक्ति प्रबल थी। सूरदासका मुँह बन्द हो जाता। किन्तु रुपया कहाँसे आये। वह अन्धा था, और घाटपर बैठकर गाता था। जो कुछ लोग उसे भिक्षा-स्वरूप देते थे, वह रुपया--सवा रुपया दैनिकसे अधिक न होता था। इधर दीपकको शहरका पानी लग गया था। पहले सीधे-सादे कपड़े पहनता था, अब कोट-पतलून पहनने लगा। नेकटाईके बिना अब उसका कालेज जाना असम्भव था। बूट-पालिश और बालोंके लिए तेलका खर्च बढ़ गया। पहले घर ही में व्यायाम कर लेता था, अब टेनिसकी चाट लग गई। सूरदास समझाता, तो मुँह फुला लेता था। कहता--'तुम तो चाहते हो, कालेजमें नक्कू बनकर रहूँ। मुझसे यह न होगा। कहिये, पढ़ाई छोड़ दूँ ?

सूरदास यह भी न चाहता था। कभी-कभी उसे यह सन्देह होता था कि दीपकका स्वभाव बदल रहा है। अब उसमें स्वार्थकी मात्रा बढ़ती जाती है, जैसे दीपक वह दीपक ही नहीं रहा हो। यह सन्देह उसके लिए अत्यन्त दु:खदायी था, पर वह इस सन्देहको अधिक देर तक ठहरने न देता था। जैसे हम कोई बात अपने निकटके बन्धुओंके विरुद्ध किसीसे सुनना नहीं चाहते, यही अवस्था सूरदासकी थी। वह अपने आपको धोखा दे रहा था। उसकी एकमात्र अभिलाषा थी कि जैसे भी हो, दीपक एफ़० ए० पास कर ले ; किन्तु रुपया ? यह प्रश्न बड़ा टेढ़ा था। तीस-चालीस रुपयेकी आमदनी थी और साठ-सत्तरका खर्च। सूरदास इसी चिन्तामें घुला जाता था। उसे रातको नींद तक न आती थी। आखिर रातको गलियोंमें जाकर गाने लगा।

शायद इसी तरह कुछ बन जाय। गानेमें दर्द था। स्त्रियाँ अपने घरोंमें बुला लेतीं, और गीत सुनतीं। सूरदास उनसे अपना रोना रोया करता, कहता--'माजी ! लड़का कालेजमें पढ़ता है, सहायता करो।' स्त्रियाँ कहतीं--'सूरे ! तू इतना कमाता है, वह सब कहां जाता है।' सूरदास अपनी ज्योति-विहीन आँखोंको इधर-उधर घुमाता और कहता—'बड़ा खर्च है माजी ! पिसा जाता हूं। किसी तरह दो वर्ष गुजर जायँ, तो शुकर करूं।' स्त्रियाँ कहतीं—'बड़ा निर्दयी छोकरा है। नौकरी क्यों नहीं कर लेता ? तू इस आयुमें कहां तक परिश्रम करेगा।' सूरदास उत्तर देता—'नौकरी क्या करे। कोई तीस-चालीस भी तो न देगा।' स्त्रियां कहतीं—'बुढ़े ! तेरी अकल मारी गई है। क्या अब तेरा लड़का डिपटी हो जायगा।' सूरदास उत्तर देता—'परमेश्वर जो चाहें, कर दे। उससे यह भी दूर नहीं है। जाने उसकी किसमतमें राज करना ही लिखा हो। माजी ! आज एक रुपया दे दीजिए। बड़ा पुन्न होगा। बड़ी ज़रूरत है। बस, एक रुपया मिल जाय। इसके बदले परमेसर आपको सौ देगा माजी !' स्त्रियोंको दया आ जाती। आना, दो आने दे देतीं।

इधर यह दुबला, पतला, निर्बल बूढ़ा सिपाहियोंके समान जीवनकी लड़ाई लड़ रहा था, उधर दीपक सुन्दरता और प्रेमकी उपासना करने लगा। उसकी कक्षामें एक विधवाकी रूपवती कन्या रूपकुँवर पढ़ती थी। दीपकका उससे प्रेम हो गया। हर समय एक साथ रहने लगे। क्लासमें भी एक साथ पढ़ते थे। इकट्ठे सैरको जाते और अपने भविष्यकी बातें करके प्रसन्न होते। दूसरे विद्यार्थी यह देखते थे और हँसते थे। कुछएक ऐसे भी थे, जिन्हें ईर्षा होती थी। कहते—'देखो, इस अन्धेके लड़केको ? है बड़ा भाग्यशाली ! कालेजमें एक ही परी थी, उसीको ले उड़ा। हम टापते ही रह गये। लड़की निरी मूर्खा है, उसके चकमोंमें आ गई है, चार दिनमें पछताने लगेगी। जाने किसका बेटा है। शायद किसी भंगी-चमारका लड़का हो।' परन्तु इन प्रेमके मतवालोंको किसीकी परवा न थी। इनका प्रेम नित्यश: बढ़ता था; मगर जब एफ० ए० का नतीजा निकला और दोनों पास हो गये, तो विरह-वेदनाका भयंकर रूप दिखाई दिया। जब तक पढ़ते थे, विरहकी चिन्ता न थी, पर परिणाम निकलते ही उनके ब्याह-शादीका प्रश्न उठ खड़ा हुआ। रूपकुँवारीकी सगाई अपनी जातिके एक अच्छे धनाढ्य वकीलसे हो चुकी थी। उनके माता-पिताने लिखा, अब हम अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकते, शीघ्र तिथि निश्चित करो। उधर साधुनीने सूरदाससे कहा, अब तो एफ० ए०की परीक्षा भी पास कर ली है, अब ब्याहमें बिलम्ब न करो। लड़की जवान हो गई है।

दीपक और रूपकुँवर दोनों घबरा गये। क्या करें। काश, परीक्षामें रह जाते, तो एक वर्षका और अवकाश मिल जाता, परन्तु हाय शोक ! उनके भाग्यमें फेल होना न लिखा था ! विद्यार्थी फेल होकर रोते हैं, वे पास होकर रो रहे थे।

एक दिन दीपकने रूपकुँवरसे कहा—"दादा नहीं मानता। कहता है, मैं साधुनीको बचन दे चुका हूँ। अब इनकार क्योंकर कर दूँ। लड़की तुम्हारे नामपर बैठी है। वह क्या करेगी ?"

रूपकुँवरने दीपककी ओर करुणायुक्त दृष्टिसे देखा और गर्दन झुका ली।

दीपकने डरते-डरते पूछा—"तुम्हारी मा क्या कहती है ?"

रूपकुँवरने सिर हिलाकर धीरेसे उत्तर दिया--"वह भी नहीं मानती। कहती है, जाने किसका बेटा है ? तुम्हें अन्धे कूएँमें कैसे झोंक दूँ।"

दीपकके सीनेमें तीर-सा चुभ गया। थोड़ी देर दोनों चुपचाप अपने दिलमें कुछ सोचते रहे। उसके बाद दीपकने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा और कहा--"रूप ! यदि मुझे ज्ञान होता कि हमारे प्रेमका यह परिणाम होगा, तो तुमसे कभी प्यार न करता। हँस-हँसकर मिले थे, रो-रोकर जुदा होंगे।"

रूपकुँवरने नागिनकी तरह सिर उठाया और बोली—"हमें जुदा कौन कर सकता है ? कोई नहीं । मुझे माकी तनिक भी परवा नहीं है ।"

दीपक (बेबसीसे)—"जुदा तो होना ही पड़ेगा रूपकुँवर !"

दोनों फिर चुप हो गये । साँझका समय था ; नदीका पानी, उसके किनारेके वृक्ष, पक्षियोंका कलरव, दिनक प्रकाश—सब धीरे-धीरे अन्धकारमें विलीन हो रहे थे । ठीक उसी तरह, जिस तरह उनकी आशाओंके फल, जीवनका प्रकाश, मनोकामनाओंका चीत्कार—सब कुछ निराशाके अन्धकारमें डूबा जा रहा था । सहसा रूपकुँवरने दीपकके कन्धेपर हाथ रख, उसकी आँखोंमें अपनी आँखें डालीं और अत्यन्त दीनतासे बोली—"चलो, कहीं भाग चलें । ऐसे देशमें, जहाँ हमारा अपना कोई भी न हो । आपत्ति सदा अपनों ही को होती है, परायोंको नहीं ।"

दीपकने रूपकुँवरका फूलसा हाथ अपने हाथमें लेकर आहिस्तासे कहा—"बदनाम हो जायँगे ।"

रूपकुँवर—"परन्तु चिन्ता तो मिट जायगी ।"

दीपक—"दादा क्या करेगा ?"

रूपकुँवर—'करना क्या है । घाटपर बैठकर गाना गायेगा । तुम भोले हो । समझते हो, उसे भी तुम्हारा उतना ही खयाल है, जितना तुम्हें उसका ।'

दीपक—"और तुम्हारी माँ ?"

रूपकुँवर (अपने हाथसे साड़ीको ठीक करके)—'वह भी चार दिन रोयेगी, फिर चुप हो जायेगी, समझ लेगी, लड़कीने अपने मनकी कर ली । और क्या ?"

यह कहकर रूपकुँवरने लज्जासे गर्दन झुका ली । इस लज्जायुक्त दृष्टिने दीपकके दिलमें आग लगा दी । उसका दिल दोनों ओर दौड़ता था । उसे दादाका भी खयाल था, रूपकुँवरका भी । वह दोनोंको चाहता था, परन्तु दोनों एक दूसरे कितने दूर, कितने परे थे । दोनोंके बीचमें जैसे हज़ारों कोसोंका अन्तर था । दीपक सोचने लगा ।

अन्तमें वही हुआ, जो ऐसे अवसरपर सदासे होता आया है । रूप और यौवनके लोभने कर्तव्यका गला घोंट दिया । दूसरे दिन दोनों गायब थे ।

[६]

सूरदासका संसार ही सूना हो गया । चारों ओर भागता फिरता था और दीपकको ढूँढ़ता था । कालेजके प्रोफेसरोंके पास जाकर रोया, विद्यार्थियोंसे जाकर पूछा, दीपक मित्रोंके पास गया, पर दीपकका किसीको भी पता न था । क्या-क्या आशाएँ थीं, सबपर पानी फिर गया । क्या-क्या उमंगें थीं, सब मिट्टीमें मिल गईं । लोग कहते—'सूरदास ! अब बैठकर हरि-भजन कर । चला गया है, चला जाने दे ।' सूरदास जवाब देता—'क्या करूँ ? जी नहीं मानता । ऐसा मालूम होता है, जैसे अभी आकर गलेसे लिपट जायगा ।' गंगाघाटके साधु कहते—"सूरे ! तू तो बावला हो गया है, कभी पराया बेटा भी अपना हुआ है । पराया सदा पराया है । अब उसका विचार छोड़ दे । अब वह कभी न लौटेगा ।"

एक पुजारीने कहा—"जब तक पढ़ता था, उसे तेरी आवश्यकता थी । अब पढ़-लिख गया है, अब उसे तेरी क्या ज़रूरत ? सूरदासकी आँखोंसे आँसू बहने लगे ।

वह लाठीके सिरेपर हाथ रखकर बोला—"उसे तो खाने-पीनेकी भी सुध नहीं । कोई न खिलावे, तो दो-दो दिन खाना ही न खायगा, बड़ा भोला है । बड़ा बे-परवा है ।"

एक और साधुने कहा—"यह सब माया है । सूरदास, तनिक विचारे, तो हिरदेके किवाड़ खुल जायँ ।"

परन्तु सूरदासके दिलपर जो बीत रही थी, उसे कौन जानता था । सन्ध्या समय घरको जाता, तो सोचता, शायद आ गया हो ; परन्तु वहां कोई न मिलता । रातको ज़रा दरवाज़ा हिलता, तो सूरदास उठकर बैठ जाता, शायद वही हो ; किन्तु वह कहां था ? अन्धेका भाग्य उसकी ज्योतिहीन आँखोंसे भी अधिक अन्धकारमय था ।

इसी प्रकार तीन वर्ष गुज़र गये, दीपक और रूपकुँवरकी कोई टोह न मिली। रूपकुँवरकी माता पुत्रीके वियोगमें रो-रोकर स्वर्गको सिधार गई। सूरदास जीता था, पर उसकी दशा मुर्देसे भी बढ़कर शोचनीय थी। पहले शरीर हृष्टपुष्ट था, अब हड्डियोंका पिंजर रह गया था। जीता था; मगर अब उसे किसीने हँसते नहीं देखा। गाना भी छूट गया है। जब किसीसे बात करता है, तो उसकी आँखोंमें आँसू आ जाते। घाटपर चुपचाप बैठा रहता है, और दोपहरको उठकर घर चला जाता है। साधुओंने बहुत समझाया कि मकान छोड़ दे, परन्तु सूरदासने मकान न छोड़ा। उसे अब भी दीपकके आ जानेकी आशा थी। हर रात उसके पलंगपर बिस्तरा बिछाता, हर सप्ताह उसकी चादर बदल देता। रोज़ लैम्पकी चिमनी साफ़ करता। रोज़ पुस्तकोंपर से गर्द झाड़ता। उसकी इस अन्धी, बहरी, निराश न होनेवाली मुहब्बतको देखकर लोगोंके कलेजेसे हूक-सी उठती थी। ऐसी श्रद्धा, ऐसी भक्ति, ऐसी भावुकतासे किसी उपासकने अपने इष्टदेवको भी न रिझाया होगा।

आखिर एक दिन सूरदासके सोये हुए भाग्यका उदय हुआ।

रातका समय था। सूरदास दीपकके पलंगकी चादर बदल रहा था और गुज़रे हुए दिनोंको याद कर रहा था। अकस्मात् किसीने दरवाज़ा खटखटाया। सूरदास सचेत हो गया। यह वायुका वेग न था, न कोई जीव-जन्तु था। अवश्य कोई आया है। यह विचार आते ही सूरदासने झपटकर किवाड़ खोल दिया, और बिना प्रतीक्षा किये ही पूछा—"कौन, दीपक?"

"नहीं, दीपक नहीं; मगर उसका समाचार है।"

सूरदासकी नस-नसमें प्रसन्नताका संचार हो गया। वह साधुको घसीटकर अन्दर ले गया, और पलंगपर बैठाकर उल्लाससे हांफते हुए बोला—"जल्दी बताओ, क्या खबर है?"

यह कहकर उसने झटपट लैम्प जला दिया।

साधु—"मैंने तुम्हारा दीपक देखा है।"

सूरदासका मुख आशाकी रोशनीसे चमकने लगा। जल्दी-जल्दी आँखें झपककर बोला—"कहां देखा है, बाबाजी!"

साधु—"लाहौरमें!"

सूरदास—"वही है। कहीं तुमसे ग़लती तो नहीं हुई?"

साधु—"ग़लती कैसे होगी? मैं उसे हज़ारोंमें पहचान लूँ। वह राँड़ भी उसके साथ थी, दोनों बाज़ारमें जा रहे थे। मैंने देखते ही पहचान लिया कि वही है। अब तो सा'ब बन गया है। अब वह बिलकुल सा'ब मालूम होता है। सूरे! ज़रा चिलम तो दे।"

सूरदासने चिलमपर आग धर दी। साधु दम लगाने लगा।

सूरदास—"तुमने बुलाया नहीं?"

साधु—"बुलाया क्यों नहीं, झट आगे बढ़कर कहा, 'बाबू सा'ब, कुछ दान मिल जाय।' उसने मेरी ओर मुसकराकर देखा और कहा, 'बाबा! कुछ काम क्यों नहीं करते?' वह राँड़ बोली, 'मुफ्तमें खानेकी आदत पड़ गई है', किन्तु उसने एक पैसा दे ही दिया। उस राँड़का अख्त्यार होता, तो कभी न देती। बोलो, चलोगे? मैं उसका मकान भी देख आया हूँ। ग्वालमंडीमें है।"

सूरदासको साधुके मुखसे राँड़का शब्द सुनकर ज़हर चढ़ गया, परन्तु उसने क्रोधको प्रकट न होने दिया। बोला—"ज़रूर चलूँगा। तुम भी चलोगे न? तुम्हारा किराया मैं दूँगा। आज मुझे बड़ी खुशी है। आज मुझे अपने दीपककी खबर मिली है। उसे शरम लगती होगी, वर्ना आप आकर ले जाता। मैं जाते ही क्षमा कर दूँगा, तो बड़ा खुश होगा। बोलो, कब चलोगे, आज ही क्यों नहीं चलते। उसे पाकर मैं जी जाऊँगा।"

साधु—"आज नहीं, परसों चलेंगे। मैं तुम्हें उसके दरवाज़ेपर पहुँचाकर चला आऊँगा, यह पहले कहे देता हूँ।"

सूरदास (उदास होकर)—"चले आना ; मगर परसों तो बहुत दूर है। अब मुझसे धीरज न होगा। कल चलो।"

यह कहकर सूरदासने साधुके चरण पकड़ लिये। अब वह इनकार न कर सका, बोला—"कल ही सही! रुपयोंका प्रबन्ध कर लो।"

सूरदास—"रुपयेकी चिन्ता न करो। अब इस वक्त कहाँ जाओगे? यहीं पड़ रहो। क्यों?"

साधु—"नहीं सूरे! घाटपर जाऊँगा। सीधा इधर ही आ रहा हूँ। इस वक्त जाने दो, सबसे मिलना है।"

साधु चला गया। सूरदास बैठकर सोचने लगा, 'दीपक क्या कहेगा? देखते ही गलेसे लिपट जायगा, और क्षमा माँगेगा। मैं पहले खफ़ा हूँगा, फिर मान जाऊँगा। उसकी बहू लायक़ मालूम होती है। चलो, अच्छा हुआ, साधुनीकी लड़की फिर भी फकीरनी ही थी। यह पढ़ी-लिखी है। मेरा ज़रूर खयाल करेगी। ऐसी स्त्रियोंका हिरदा नरम होता है।'

सूरदासने तम्बूरा उठाया और गाने लगा। आज इसका स्वर कितना मीठा, कितना सुरीला था। आज उसका दिल उमड़ा हुआ था। कुम्हलाई हुई आशा-लता फिर हरी हो उठी थी। जब सबेरा हुआ, तो उसने मिट्टीके भांड़ेसे तीन वर्षके संचित रुपये निकाले। अंटीमें बांधकर घाटकी ओर चला, किन्तु आज उसके पाँव पृथ्वीपर न पड़ते थे।

[७]

चौथे दिन रातके समय लाहौरमें ग्वालमंडीके एक दोमंज़ले मकानके सामने एक टमटम रुकी। और उसमें से वह साधु और सूरदास उतरे। साधु सूरदासको मकानके पास ले गया। दूसरे दिन मिलनेकी प्रतिज्ञा करके चला गया। सूरदास कुछ देर चुप रहा। उसके बाद उसने धीरेसे किवाड़ खटखटाया।

"कौन है?"

सूरदासका कलेजा धड़कने लगा—यह वही था, वही स्वर था, वही उच्चारण था, वही शब्द थे, वही माधुरी थी। ज़रा भी फ़र्क़ न था। वही जिसके लिए सूरदास तीन साल तक छटपटाता रहा, जिसके सामने वह अपना जीवन भी तुच्छ समझता था। अधिक प्रसन्नताके कारण मुखसे शब्द तक न निकलता था।

"कौन है?" दीपकने फिर पूछा। और उसके साथ ही कमीज़ पहने नंगे सिर आकर दरवाज़ेमें खड़ा हो गया।

सूरदासने दीपकके पाँवोंकी आहट पहचान ली। और दोनों हाथ फैलाकर कहा—"भैया! मैं हूँ सूरदास।"

दीपकने एक क्षणके लिए सूरदासके सूखे शरीरको देखा, और उसके बाद "दादा! दादा!" कहकर उसके गलेसे लिपट गया।

थोड़ी देरके बाद दोनों कमरेमें बैठे थे, और बातें कर रहे थे। सूरदासने कहा—"देखा, मैंने तुझे आ पकड़ा। अब कहाँ भगेगा?"

दीपक—"शायद आपको विश्वास न हो। कई बार तैयार हुआ कि चलकर आपको यहाँ ले आऊँ, परन्तु लज्जा मार्ग रोक लेती थी।"

सूरदास—"एक खत ही लिख दिया होता।"

दीपक—"रूपकुँवर कहती थी, मेरी माताको पता लग गया, तो बड़ी परेशानी उठानी पड़ेगी।"

सूरदास—"वह तो कभीकी मर चुकी। तुम्हें मालूम है या नहीं?"

दीपक—"जी हां, मालूम हो गया था। आप तो आधे भी नहीं रहे। आप मुँहसे न बोलते तो शायद मैं पहचान भी न सकता। वह शकल ही नहीं रही।"

सूरदास (दीपकके शरीरपर हाथ फेरकर)—"तुम भी तो बहुत कमज़ोर हो गये। कुछ दूध पीते हो या नहीं? भैया! दूध रोज़ पिया करो।"

दीपक—"रोज़ पीता हूँ दादा ! मुझे तो सब कहते हैं, तुम बहुत मोटे हो गये हो ।"

सूरदास—"चल झूठा कहींका । जो काशीमें थी वह बात अब कहां ? क्या तनख्वाह मिलती है ?"

दीपक—"६०) मिलते हैं। वह भी स्कूलमें पढ़ाती है। ६०) उसे मिलते हैं। सवा सौ हो जाता है। बड़े मज़ेमें हैं।"

सूरदास—"बुड्ढेका तो खयाल ही न था। अब खोपड़ीपर आकर सवार हो गया। तेरी स्त्री बुरा तो न मानेगी।"

दीपक—"वह मुझसे ज़्यादा प्रसन्न हो रही है। कहती है, अहोभाग्य, जो हमारा बड़ा कोई घरमें आया।"

परन्तु प्रसन्नताका पोल रातको खुला। आधी रातका समय था। सूरदासकी आँख खुल गई। दीपक और रूपकुँवर धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। अन्धोंके कान बहुत पतले होते हैं। सूरदासने एक-एक शब्द सुन लिया। रूपकुँवर कह रही थी—"अजब संकटमें फँस गये। क्या करें!"

दीपक बोला—"मैंने इसीलिए चिट्ठी नहीं लिखी थी कि दौड़ा हुआ चला आयगा।"

रूपकुँवर—"कह दो, वहीं चला जाय। हम ५) हर महीने भेज दिया करेंगे।"

दीपक—"अन्धा कभी न मानेगा।"

रूपकुँवर—"मैं बैठाकर पराठे खिलाऊँगी, यह मुझसे भी न होगा।"

दीपक—"यार-दोस्त पूछेंगे—'यह कौन है', तो क्या कहूँगा ?"

रूपकुँवर हँस पड़ी—"कह देना मेरे पूज्य पिताजी हैं, और क्या ?"

दीपक—"साठ-सत्तर वर्षका हो गया, मौत भी नहीं आती। अभी दस वर्षसे पहले कभी न मरेगा। देख लेना।"

सूरदासको ऐसा मालूम हुआ, जैसे खाट उसके नीचेसे निकली जाती है, जैसे उसके दिलपर किसीने सहस्रों मनका पत्थर रख दिया है। वही लड़का जिसे उसने इतने लाड़-प्यारसे पाल-पोसकर बड़ा किया था, जिसके लिए रात-दिन एक कर दिया था, जिसके पढ़ानेके लिए उसने अपने आत्मगौरव तककी परवा नहीं की थी, आज उसकी मृत्युके लिए मनौती मना रहा था! जिसे उसने पन्द्रह वर्ष खिलाया, वह उसे एक दिन भी न खिला सका!

सूरदासने दबे पाँव उठकर अपनी लाठी उठाई और चुपचाप दरवाज़ा खोलकर बाहर निकल आया। नया शहर था, नई गलियाँ थीं। पग-पगपर ठोकरें खाता और गिरता था, किन्तु चला जाता था, कहाँ ? किसके पास ? यह वह स्वयं भी न जानता था। वह चाहता था, किसी तरह दीपकके घरसे दूर निकल जाय। थोड़ी देरके बाद बड़े ज़ोरसे बिजली कड़की और इसके साथ ही वर्षा होने लगी, परन्तु सूरदास अब भी गिरता-पड़ता, ठोकरें खाता, भागा चला जा रहा था, जैसे कोई पकड़नेको आ रहा हो। सारी रात वर्षा होती रही, सारी रात सूरदास इधर-उधर भागता, दौड़ता, ठोकरें खाता रहा।

दूसरे दिन पुलिसको सड़कपर एक अन्धे फकीरकी लाश मिली!

साकेत

श्री मैथिलीशरण गुप्त

द्वादश सर्ग

ढाल लेखनी, सफल अन्तमें मसि भी तेरी,
तनिक और हो जाय असित यह निशा अँधेरी।
ठहर तभी, कृष्णाभिसारिके, कण्टक, कढ़ जा,
बढ़ संजीवनि, आज मृत्युके गढ़पर चढ़ जा।

झलको, झलमल भाल-रत्न, हम सबके झलको,
हे नक्षत्र, पियूष-बिन्दु, तुम छलको, छलको।
करो श्वास-संचार वायु, बढ़ चलो निशामें,
जीवनका जय-केतु अरुण हो पूर्व दिशामें।

ओ कविके दो नेत्र, अनल-जल दोनों बरसो,
लक्ष्मण-सा तनु कहाँ प्राण, पाओगे? सरसो,
देखो, वह शत्रुघ्न-दृष्टि मानो दहती है,
सदय भरत, यह सुनो, माण्डवी क्या कहती है—

"कातर हो तुम आर्यपुत्र, होकर नर नामी,
तो अबला क्या करे, बता दो मुझको स्वामी!
पर इतना भी आज तुम्हें अवकाश कहाँ है?
पुनः परीक्षक हुआ हमारा दैव यहाँ है।

भवने इतना भाव-विभव हमसे है पाया,
उस भावुकको हाय! तदपि सन्तोष न आया।
फिर भी सम्मुख अड़ा खड़ा वह भिक्षुक भूखा,
दया करो हे नाथ, दीनका मुख है सूखा!

हम क्या अब कुछ और नहीं दे सकते उसको?
आगे बढ़ इस ठौर नहीं ले सकते उसको?
क्या हम उससे नहीं पूछ सकते हैं इतना—
'भाई, हमसे तुझे चाहिए अब क्या, कितना?'."

"प्रस्तुत हैं ये प्राण, किन्तु वह सह न सकेगा,
इनको लेकर प्रिये, शान्तिसे रह न सकेगा।
देखूँ, जलनिधि जुड़ा सके यदि इनकी ज्वाला,—
पहने है जो स्वर्ण-पुरीकी शाला-माला।"

"स्वामी, निज कर्त्तव्य करो तुम निश्चित मनसे,
रहो कहीं भी, दूर नहीं होगे इस जनसे।
डरा सकेगा अब न आप दुर्दम यम मुझको,
है अपनोंके संग मरण जीवन सम मुझको।

जो अदृश्य है, वही हमें शंकित करता है,
विकृताकृतियाँ अन्धकार अंकित करता है।
किन्तु मुझे अब नहीं किसीका कोई भय है,
भीषण होता स्वयं निराशा-पूर्ण हृदय है।

न सही, यदि यह लोक हमारे लिए नहीं है,
हम सब होंगे जहाँ हमारा स्वर्ग वहीं है।
दैव—अभागा दैव—हमारा क्या कर लेगा?
श्रद्धांजलि चिरकाल भुवन-भर, भर-भर देगा।

संवादोंको वायु वहनकर फैलाती है,
अन्तःपुरकी याद मुझे रह-रह आती है।"
"जाओ, जाओ, प्रिये, सभीको शीघ्र सँभालो,
यह मुख देखें शत्रु, यहाँ तुम देखो-भालो।"

उठी मांडवी कर प्रणाम प्रिय चरण भिगोकर,
बोले तब शत्रुघ्न शूर सम्मुख नत होकर—
"जाओगी क्या तुम निराश ही? जाओ, आर्ये,
इसी भाँति इस समय स्वस्थता पाओ आर्ये।

सुनती जाओ, किन्तु तुम्हें है व्यर्थ निराशा,
है अपना ही उदय और अपनी ही आशा।
रूठा और अदृष्ट मनानेकी बातोंसे,
तो मैं सीधा उसे करूँगा आघातोंसे!"

"विजयी हो तुम तात, और क्या आज कहूँ मैं?
पर आशाकी और कहाँ तक ऐंठ सहूँ मैं?
मेरा भी विश्वास एक, क्यों व्यर्थ बहूँ मैं?
हुई आज निश्चिन्त, कहीं भी क्यों न रहूँ मैं।

है जो कुछ भी प्राप्य यहाँ, मैंने सब पाया,
हुई पूर्ण परितृप्त हृदयकी ममता-माया।
मुझे किसीके लिए उलहना नहीं रहा अब,
मुझ-सा प्रत्यय प्राप्त करें सब ओर अहा! सब।"

देकर निज गुंजार-गन्ध मृदु-मन्द पवनको,
चढ़ शिविकापर गई माण्डवी राज-भवनको।
रहे सन्न-से भरत, कहा—"शत्रुघ्न?" उन्होंने,
उत्तर पाया—'आर्य!" लगे दोनों फिर रोने।

"हनूमान उड़ गये पवन-पथसे हैं कैसे?"
"जलमें पंख समेट शफर सरक ले जैसे!
उठता वह वातूल वेगसे है कब ऐसे?
नहीं, आर्यका बाण गया था उनपर, वैसे!"

"और यहाँ हम अवश बने बैठे हैं कैसे?"
सुन नीरव शत्रुघ्न रहे जैसेके तैसे।
"लोग भरतका नाम आज कैसे लेते हैं?"
"आर्य, नामके पूर्व साधु-पद वे देते हैं।"

"भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसोंके बन्धनमें,
सिन्धु-पार वह बिलख रही है व्याकुल मनमें।
बैठा हूँ मैं भण्ड साधुता धारण करके
अपने मिथ्या भरत नामको नाम न धरके!

कलुषित कैसे शुद्ध सलिलको आज करूँ मैं?
अनुज, मुझे रिपु-रक्त चाहिए, डूब मरूँ मैं!
मेटूँ अपने जड़ीभूत जीवन की लज्जा,
उठो, इसी क्षण शूर, करो सेनाकी सज्जा।

पीछे आता रहे राज-मंडल दल-बलसे,
पथमें जो-जो पड़ें चलें वे जलसे थलसे।
सजे अभी साकेत बजे हाँ जयका डंका,
रह न जाय अब कहीं किसी रावणकी लंका!

माताओंसे माँग विदा मेरी भी लेना,
मैं लक्ष्मण-पथ-पथी, ऊर्मिलासे कह देना।
लौटूँगा तो संग उन्हींके, और नहीं तो,
नहीं, नहीं, वे मुझे मिलेंगे भला कहीं तो!"

सिरपर नत शत्रुघ्न भरत-निर्देश धरे थे,
पर "जो आज्ञा" कह न सके, आवेश-भरे थे।
छूकर उनके चरण द्वारकी ओर बढ़े वे,
झोंकेपर ज्यों गन्ध, अश्वपर कूद चढ़े वे!

निकला पड़ता वक्ष फोड़कर वीर हृदय था,
उधर धरा-तल छोड़ आज उड़ता-सा हय था।
जैसा उनके क्षुब्ध हृदयमें धड़ धड़ धड़ था,
वैसा ही उस वाजि-वेगमें पड़ पड़ पड़ था!

फड़-फड़ करने लगे जाग पेड़ोंपर पक्षी,
अपलक था आकाश, चपल वल्गित गति लक्षी।
क्षण-भर वह छवि देख स्वयं विधिकी गति मोही,
सिरजा न हो तुरंग-अंग करके आरोही!

उठ कौंधा-सा त्वरित राज-तोरणपर आया,
प्रहरी-दलसे सजग सैन्य-अभिवादन पाया।
कूद पड़ा रणधीर, एकने अश्व सँभाला,
नीरव ही सब हुआ, न कोई बोला-चाला।

अन्त:पुरमें वृत्त प्रथम ही घूम फिरा था,
सबके सम्मुख विषम वज्र-सा टूट गिरा था।
माताओंकी दशा,—हाय! सूखेपर पाला,
जला रही थी उन्हें कँपा कर ठंढी ज्वाला!

"अम्ब, रहे यह सदन, वीरसू तुम व्रत पालो,
ठहरो, प्रस्तुत वैर-वह्निपर नीर न डालो।
हमने प्रेम-पयोधि भरा आँखोंके जलसे,
द्विपद दस्यु अब जलें हमारे द्वेषानलसे!

मातः, कातर न हो, अहो ! टुक धीरज धारो,
किनकी पत्नी और प्रसू तुम, तनिक विचारो।
असुरोंपर निज विजय सुरोंने पाई जिनसे,
और यहीं खिंच स्वर्ग-सगुणता आई जिनसे।

जननि, तुम्हारे जात आज उन्नत हैं इतने,
उनके कर-गत हुए आप ऊँचे फल जितने।
कहीं नीच ग्रह विघ्न-रूप होकर अटकेंगे,
तो हम उनको तोड़ शिलाओंपर पटकेंगे !

धर्म तुम्हारी ओर, तुम्हें फिर किसका भय है ?
जीवनमें ही नहीं, मरणमें भी निज जय है।
मरते होंगे अमर, भोगते हैं जी-जीकर,
मर मरकर नर अमर कीर्त्तनामृत पी-पीकर।

जनकर हमको स्वयं जूझनेको, रोती हो ?
गर्व करो, क्यों व्यर्थ दीन-दुर्बल होती हो।
करे हमारा वैरि-वृन्द ही कातर क्रन्दन,
दो हमको आशीष अम्ब, तुम लो पद-वन्दन।"

"इतना गौरव वत्स, नहीं सह सकती नारी,
पिसते हैं ये प्राण, भार है भीषण भारी।
पाते हैं अवकाश निकलनेका भी कब ये,
कहाँ जायँ, क्या करें अभागे प्रकृति अब ये।

किये कौन व्रत नहीं, कौन जप नहीं जपे हैं,
हम सबने दिन-रात कौन तप नहीं तपे हैं।
फिर भी थे क्या प्राण यही सुननेको ठहरे,
हुए देव भी हाय ! हमारे अन्धे-बहरे !"

"अम्ब, तुम्हारे उन्हीं पुण्य-कर्म्मोंका फल है,
हम सबमें जो आज धर्म-रक्षाका बल है।
थकता है क्यों हृदय हाय ! जब वह पकता है,
सुर-गण उलटा आज तुम्हारा मुँह तकता है।"

"मेरे बेटा, नहीं समझती हूँ यह सब मैं,
बहुत सह चुकी, और नहीं सह सकती अब मैं।
हाय ! गये सो गये, रह गये सो रह जावें,
जाने दूँगी तुम्हें न, वे आवें तब आवें।

तुम्ह तुम्हींमें उन्हें देखकर रही, रहूँगी,
तुम्हें छोड़कर निराधार मैं कहाँ बहूँगी ?
देखूँ, तुझको कौन छीनने मुझसे माता ?"
पकड़ पुत्रको लिपट गई कौसल्या माता।

धाड़ मारकर बिलख रो पड़ी रानी भोली,
पाश छुड़ाती हुई सुमित्रा तब यों बोली—
"जीजी, जीजी, उसे छोड़ दो, जाने दो तुम,
सोदरकी गति अमर-समरमें पाने दो तुम !

सुखसे सागर पार करे यह नागर मानी,
बहुत हमारे लिए यहीं सरयूमें पानी !
जा भैया, आदर्श गये तेरे जिस पथसे,
कर अपना कर्त्तव्य पूर्ण तू इति तक अथसे।

जिस विधिने सविशेष दिया था मुझको जैसा,
लौटाती हूँ आज उसे वैसाका वैसा !"
पोंछ लिया नयनाम्बु मानिनीने अंचलसे,
कैकेयीने कहा रोककर आँसू बलसे—

"भरत जायगा प्रथम और यह मैं जाऊँगी,
ऐसा अवसर भला दूसरा कब पाऊँगी ?
मूर्त्तिमती आपत्ति यहाँसे मुहँ मोड़ेगी,
शत्रु-देश-सा ठौर मिला वह क्यों छोड़ेगी ?"

"अम्ब, अम्ब, तुम आत्मनिरादर करती हो क्यों ?
दे नव-नव यश हमें, अयशसे डरती हो क्यों ?
क्षमा करो, आपत्ति मुझे भी लगतीं थी तुम।
मार्ग-दर्शनी किन्तु ज्योति-सी जगतीं थी तुम।"

"वत्स, वत्स, पर कौन जानता उसकी ज्वाला ?
उसके माथे वही धुआँ है काला-काला !"
"जलता है जो जननि, वही जगमें जगता है,
जो इतना भी नहीं जानता है, ठगता है।"

"मैं निज पतिके संग गई थी असुर-समरमें,
जाऊँगी अब पुत्र-संग भी अरि-सागरमें।"
"घर बैठो तुम देवि, हेमकी लंका कितनी ?
उतनी भी तो नहीं धूल मुट्ठी-भर जितनी।

भरतखण्डके पुरुष अभी मर नहीं गये हैं,
कट उनके वे कोटि-कोटि कर नहीं गये हैं।
रोना-धोना छोड़ उठो, सब मंगल गाओ,
जाते हैं हम विजय-हेतु, जय-दर्प जगाओ,

रामचन्द्रके संग गये हैं लक्ष्मण वनमें,
भरत जायँ, शत्रुघ्न रहे क्या आज भवनमें ?
भाभी, भाभी, सुनो, चार दिन तुम सब सहना,
'मैं लक्ष्मण-पथ-पथी' आर्यका है यह कहना—

'लौटूँगा तो संग उन्हींके और नहीं तो—
नहीं, नहीं, वे मुझे मिलेंगे भला कहीं तो।''
''देवर, तुम निश्चिन्त रहो, मैं कब रोती हूँ,
किन्तु जानती नहीं, जागती या सोती हूँ।

जो हो, आँसू छोड़ आज प्रत्यय पीती हूँ,
जीते हैं वे वहाँ, यहाँ जब मैं जीती हूँ !
जीतो तुम, श्रुतकीर्ति, तनिक रोली तो लाना,
टीका कर दूँ बहन, इन्हें है झटपट जाना।

जीजीका भी सोच नहीं है मुझको वैसा
कर्बुर-कुलकी उन अनाथ-बधुओंका जैसा।
नीरव विद्युल्लता आज लंकापर टूटी,
किन्तु रहेगी घनश्यामसे कब तक छूटी ?''

स्तम्भित-सा था वीर, चढ़ी माथेपर रोली,
पैरों पड़ श्रुतकीर्ति अन्तर्में प्रियसे बोली—
''जाओ स्वामी, यही माँगती मेरी मति है—
जो जीजीकी, उचित वही मेरी भी गति है !

मान मनाया और जिन्होंने लाड़ लड़ाया,
छोटे होकर बड़ा भाग है जिनसे पाया,
जिनसे दुगुना हुआ यहाँ वह भाग हमारा,
हम दोनोंकी मिले उन्हींमें जीवन-धारा।''

''अर्धांगीसे प्रिये, यही आशा थी मुझको,
शुभे, और क्या कहूँ, मिले मुँह-माँगा तुझको।''
देखा चारों ओर वीरने दृष्टि डालकर,
और चला तत्काल आपको वह सँभालकर।

मूर्च्छित होकर गिरी इधर कोसल्या रानी,
उधर अट्टपर दीख पड़ा गृह-दीपक-दानी।
चढ़ दो-दो सोपान राज-तोरणपर आया—
ऋषभ लाँघकर माल्यकोष ज्यों स्वरपर छाया !

नगरी थी निस्तब्ध पड़ी क्षणदा-छायामें,
भुला रहे थे स्वप्न हमें अपनी मायामें।
जीवन-मरण समान भावसे जूझ-जूझकर
ठहरे पिछले पहर स्वयं थे समझ-बूझकर !

पुरी-पार्श्वमें पड़ी हुई थी सरयू कैसी,
स्वयं उसीके तीर हंस-माला थी जैसी।
बहता जाता नीर और बहता आता था,
गोद भरीकी भरी तीर अपनी पाता था !

भूतलपर थी एक स्वच्छ चादर-सी फैली,
हुई तरंगित तदपि कहींसे हुई न मैली !
ताराहारा चारु चपल चाँदीकी धारा,
लेकर एक उसाँस वीरने उसे निहारा।

मसृण सौध-तल बने व्योमके सफल मुकुर थे,
उडुगण अपना रूप देखते टुकुर-टुकुर थे।
फहर रहे थे केतु उच्च अट्टोंपर फर-फर,
ढाल रही थी गन्ध मन्द मारुत-गति भर-भर।

स्वयमपि संशयशील गगन-घन नील गहन था,
मीन मकर, वृष-सिंह पूर्ण सागर या वन था ?
झोंके झिल-मिल झेल रहे थे दीप गगनके,
खिल-खिल हिल-मिल खेल रहे थे दीप गगनके।

तिमिर-अंकमें जब अशंक तारे पलते थे,
स्नेह-पूर्ण पुर-दीप दीप्ति देकर जलते थे।
धूम-धूप लो, अहो उच्च ताराओ, चमको,
लिपि-मुद्राओ-भूमि-भाग्यकी, दमको दमको।

करके ध्वनि-संकेत शूरने शंख बजाया,
अन्तरका आह्वान वेगसे बाहर आया।
निकल उठा उच्छ्वास हृदयसे उभर-उभरके,
हुआ कम्बु कृतकृत्य कण्ठकी अनुकृति करके।

उधर भरतने दिया साथ ही उत्तर मानों,
एक एक दो हुए जिन्हें एकादश जानों।
यों ही शंख असंख्य हो गये, लगी न देरी,
घनन-घनन बज उठी गरज तत्क्षण रण-भेरी!

काँप उठा आकाश, चौंककर जगती जागी,
छिपी क्षितिजमें कहीं सभय निद्रा उठ भागी।
बोले वनमें मोर, नगरमें डोले नागर,
करने लगे तरंग-भंग सौ-सौ स्वर-सागर!

उठी क्षुब्ध-सी अहा! अयोध्याकी नर-सत्ता,
सजग हुआ साकेतपुरीका पत्ता-पत्ता।
भय-विस्मयको शूर-दर्पने दूर भगाया,
किसने सोता हुआ यहाँका सर्प जगाया!

प्रिया-कण्ठसे छूट सुभट-कर शस्त्रोंपर थे।
त्रस्त बधूजन-हस्त स्रस्त-से वस्त्रोंपर थे।
प्रियको निकट निहार उन्होंने साहस पाया,
बाहु बढ़ा, पद रोप, शीघ्र दीपक उकसाया।

अपनी चिन्ता भूल उठी माता झट लपकी,
देने लगी सँभाल बाल-बच्चोंको थपकी—
"भय क्या? भय क्या? हमें राम राजा हैं अपने,
दिया भरत-सा सुफल प्रथम ही जिनके तपने।"

चरर-मरर खुल गये अरर बहु रवस्फुटोंसे!
क्षणिक रुद्ध थे तदपि विकट भट उर:पुटोंसे?
बाँधे थे जन पाँच-पाँच आयुध मन भाये,
पंचानन गिरि-गुहा छोड़ ज्यों बाहर आये!

"धरने आया आग कौन मणियोंके धोखे?"
स्त्रियाँ देखने लगीं दीप धर, खोल झरोखे।
"ऐसा जड़ है कौन यहाँ भी जो चढ़ आवे?
वह थल भी है कहाँ जहाँ निज दल बढ़ जावे?

राम नहीं घर, यही सोचकर लोभी-मोही,
क्या कोई माण्डलिक हुआ सहसा विद्रोही।
मरा अभागा, उन्हें जानता है जो वनमें,
रमे हुए हैं यहाँ राम राघव जन-जनमें!"

"पुरुष-वेशमें साथ चलूँगी मैं भी प्यारे,
राम-जानकी संग गये, हम हों क्यों न्यारे?"
"प्यारी, घर ही रहो ऊर्मिला रानी-सी तुम,
क्रान्ति-अनन्तर मिलो शान्ति मन मानी-सी तुम।"

पुत्रोंको नत देख धात्रियाँ बोलीं धीरा—
"जाओ बेटा, 'राम काज, क्षणभंगशरीरा'।"
पतिसे कहने लगीं पत्नियाँ—"जाओ स्वामी,
बने तुम्हारा वत्स तुम्हारा ही अनुगामी।

जाओ, अपने राम-राज्यकी आन बढ़ाओ,
वीरवंशकी बान, देशका मान बढ़ाओ।"
"अम्ब, तुम्हारा पुत्र पैर पीछे न धरेगा,
प्रिये, तुम्हारा पति न मृत्युसे कहीं डरेगा।

फिर भी फिर भी अहो! विकल-सी तुम हो रोती?"
"हम यह रोती नहीं, वारती मानस मोती!"
यों ही अगणित भाव उठे रघु-सगर-नगरमें,
बगर उठे बढ़ अगर-तगर-से डगर-डगरमें!

चिन्तित-से काषाय वसनधारी सब मन्त्री,
आ पहुँचे तत्काल और बहु यन्त्री-तन्त्री।
चंचल जल-थल-बलाध्यक्ष निज दल सजते थे,
झन-झन, घन-घन, समर-वाद्य बहु विध बजते थे।

पाल उड़ाती हुई पंख फैलाकर नावें
प्रस्तुत थीं कब, किधर हंसनी-सी उड़ जावें!
हिलने-डुलने लगे पंक्तियोंमें बँट बेड़े,
थपकी देने लगीं तरंगे मार थपेड़े!

उल्काएँ सब ओर प्रभा-सी पाट रहीं थी,
पी-पीकर पुर-तिमिर जीभ-सी चाट रहीं थी!
हुई हतप्रभ नभोजड़ित हीरोंकी कनियाँ,
मुक्ताओं-सी बेध न लें भालोंकी अनियाँ!

तुले धुले-से खुले खड्ग चमचमा रहे थे,
तप्त सादियोंके तुरंग तमतमा रहे थे।
हींस, लगामें चाब, धरातल खूँद रहे थे,
उड़नेको उत्कर्ण कभी वे कूद रहे थे।

करके घंटा-नाद शस्त्र लेकर शुण्डोंमें,
धर दो दो रद-दण्ड दबाकर निज तुण्डोंमें,
अपने मदकी नहीं आप ही ऊष्मा सहकर,
झलते थे श्रुति-तालवृन्त दन्ती रह-रहकर !

योद्धाओंका धन सुवर्णसे सार सलोना,
जहाँ हाथमें लौह वहाँ पैरोंमें सोना !
मानो चले सगेह रथीजन बैठ रथोंमें,
आगे थे झंकार और टंकार पथोंमें।

पूर्ण हुआ चौगान राज-तोरणके आगे,
कहते थे भट—"कहाँ हमारे शत्रु अभागे ?"
दृग असमय उन्निद्र और भी अरुण हुए थे,
प्रौढ़-जरठ भी आज तेजसे तरुण हुए थे !

पीवर-मांसल अंस, पृथुल उर, लम्बी बाहें,
एकाकी ही शेष-भार ले लें यदि चाहें !
उछल-उछल कच-गुच्छ बिखरते थे कन्धोंपर,
रण-कंकण थे खेल रहे दृढ़ मणिबन्धोंपर !

तरणि-खचित, मणि-रचित केतु झकझका रहे थे,
वस्त्र धकधका रहे, शस्त्र भकभका रहे थे !
हो-होकर उद्ग्रीव लोग टक लगा रहे थे,
नगर-जगैया जगर-मगर जगमगा रहे थे !

उतर अरिन्दम प्रथम खण्डपर आकर ठहरा,
तप्त स्वर्णका वर्ण दृप्त मुखपर था गहरा।
हाथ उठाये जहाँ उन्होंने, सन्नाटा था,
सैन्य-सिन्धुमें जहाँ ज्वार था, अब भाटा था !

गूँगा सदा प्रकाश, फैलता है निःस्वन-सा,
किन्तु वीरका उदय अरुण-सा था, स्वर घन-सा—
"सुनो सैन्यजन, आज एक नव अवसर आया,
मैंने असमय नहीं, अचानक तुम्हें जगाया।

जो आकस्मिक, वही अधिक आकर्षक होता,
यह साधारण बात, काटता है, जो बोता।
क्लीब-कापुरुष जाग-जागकर भी है सोता,
पर साकेको शूर स्वप्नमें भी कब खोता ?

साका, साका, आज वही साका है शूरो !
सिन्धु-पार उड़ रही यही स्वपताका शूरो !
सिन्धु कहाँका सिन्धु ? हुआ है जल भी थल-सा,
बँधा विपुल पुल, खुला आर्य-कुलका अर्गल-सा !

यह सब किसने किया ? उन्हीं प्रभु-पुरुषोत्तमने,
पाया है युग-धर्म-रूपमें जिनको हमने।
होकर भी चिरसत्यमूर्ति हैं नित्य नये जो,
भव्य भोग रख दिव्य योगके लिए गये जो।

हम जिनका पथ देख रहे हैं, कब वे आवें ?
कब हम निज धृति-धाम राम राजाको पावें ?
तो फिर आओ वीर, तनिक आगे बढ़ जावें,
उनके पीछे जायँ, उन्हें आगे कर लावें।

चलना-भर है हमें, मार्ग है बना बनाया,
मकरालय भी जिसे बीचमें रोक न पाया।
किया उन्होंने स्वच्छ उसे, हम अटकेंगे क्यों ?
चरण-चिह्न हैं बने, भूल कर भटकेंगे क्यों ?

दुर्गम दक्षिण मार्ग समझकर ही निज मनमें,
चित्रकूटसे आर्य गये थे दण्डकवनमें।
शंकाएँ हैं जहाँ, वहीं धीरोंकी मति है,
आशंकाएँ जहाँ, वहीं वीरोंकी गति है।

लंकाके क्रव्याद वहाँ आकर चरते थे,
भोले-भाले शान्त सदय ऋषि-मुनि मरते थे।
सफल न करते आर्य भला फिर वन जाना क्यों ?
पुण्यभूमिपर रहे पापियोंका थाना क्यों ?

भरतखण्डका द्वार विश्वके लिए खुला है,
भुक्ति-मुक्तिका योग जहाँपर मिला-जुला है।
पर जो इसपर अनाचार करने आवेंगे,
रौरवमें भी ठौर न पाकर पछतावेंगे।

जाकर प्रभुने वहाँ धर्म-संकट सब मेटा,
जय-लक्ष्मीने उन्हें आप ही आकर भेटा।
दुष्ट दस्यु दल बाँध रुष्ट होकर हाँ आये,
पर जीवित वे नहीं एक भी जाने पाये।

झंखाड़ों-से उड़े शत्रु, पर पड़े अनलमें,
प्रभुके शर हैं ज्वाल-रूप ही समरस्थलमें।
सौ झोंके क्या एक अचलको धर सकते हैं ?
एक गरुड़का सौ भुजंग क्या कर सकते हैं ?

पहुँचा यह संवाद अन्तमें उस रावण तक,
जो निज गो-द्विज-देव-धर्म-कर्मोंका कण्टक।
उसी क्रूरको काढ़ दूर करने भव-भयको,
वन भेजा हो कहीं न माने ज्येष्ठ तनयको।

तपकर विधिसे विभव निशाचरपतिने पाया,
वही पापकर आप रामसे मरने आया।
किन्तु सामना कर न सका पापी जब बलसे,
अबला हरने चला साधु-वेशी खल छलसे !"

× × ×

सुननेको हुंकार सैनिको, यही तुम्हारी,
जिसके आगे उड़े शत्रुकी मति-गति सारी,
सहसा मैंने तुम्हें जगाया है, तुम जागे,
नाच रही है विजय प्रथम ही अपने आगे।

किन्तु विजय तो शरण मरणमें भी वीरोंके,
चिरजीवन है कीर्ति-वरणमें भी वीरोंके
किन्तु जयाजय भूल, भूलकर जीना-मरना,
हमको निज कर्तव्य-मात्र है पालन करना।

जिस पामरने पतिव्रताको हाथ लगाया,
उसको, जिसने अतुल विभव उसका ठुकराया,
प्रभु हैं स्वयं समर्थ, पाप-कर काटें उसके,
राम-बाण हैं सजग प्राण जो चाटें घुसके।

करता है प्रतिशोध किन्तु आह्वान हमारा,
जगा रहा है जाग हमें अभिमान हमारा।
खींच रहा है आज ज्ञान ही ध्यान हमारा,
लिखे शत्रु-लंका-सुवर्ण आख्यान हमारा,

हाय ! मरणसे नहीं, किन्तु जीवनसे भीता,
राक्षसियोंसे घिरी हमारी देवी सीता।
बन्दीगृहमें बाट जोहती खड़ी हुई है,
राजहंसनी व्याध-जालमें पड़ी हुई है।

अबलाका अपमान सभी बलवानोंका है,
सती-धर्मका मान मुकुट सब मानोंका है।
वीरो, जीवन-मरण यहाँ आते-जाते हैं,
उनका अवसर किन्तु कहाँ, कितने पाते हैं ?

मारो, मारो, जहाँ वैरियोंको तुम पाओ,
मर-मरकर भी उन्हें प्रेत होकर लग जाओ।
है अपनोंको छोड़ मुक्ति भी अपनी कारा,
पर अपनोंके लिए नरक भी स्वर्ग हमारा।

आँख उठावें फिर न इधर वे, आँखें फोड़ो,
हाथ बढ़ावें फिर न, हाथ काटो, शर जोड़ो।
बढ़ें न वे इस ओर, पैर उनके तुम तोड़ो,
जीते हो तो सुनो, उन्हें जीता मत छोड़ो !

पैर धरें इस पुण्यभूमिपर पामर पापी,
कुललक्ष्मीका हरण करें वे सहज सुरापी।
भर लो उनका रुधिर, करो पितरोंका तर्पण,
मांस जटायु-समान जनोंको कर दो अर्पण !

धन्य वन्यजन भी न सह सके यह अपकर्षण,
करते हैं वे कूद-कूदकर घन संघर्षण।
चलो, चलो नरवरो, न वानर ही यश ले लें,
वे ले लें भुज बीस, सीस ही हम दस ले लें।

× × ×

साधु साधु ! थी मुझे यही आशा तुम सबसे—
'नामशेष रह जाँय वाम वैरी बस अबसे।'
निश्चय हमको उन्हें मारना है या मरना,
जब मरनेसे नहीं भला तब किससे डरना ?

पौधे-से हम उगे एक क्यारीमें बोये,
माली हमें उखाड़ ले चला तो हम रोये।
किन्तु बन्धु, वह हमें जहाँ रोपेगा फिरसे,
होगा क्या उपयुक्त न वह इस भुक्त अजिरसे ?

तदपि चुनौती आज हमारी स्वयमपि यमको,
विश्रुत संजीवनी प्राप्त है अद्भुत हमको।
अपने ऊपर आप परीक्षा उसकी करके,
आंजनेय ले गये उसे यह अम्बर तरके।

लंकाकी खर शक्ति आर्य लक्ष्मणने झेली,
उनकी रक्षा उसी महौषधिने सिर ले ली।
मारा प्रभुने कुम्भकर्ण-सा निर्मम नामी,
हुआ विभीषण शरण स्वयं मनु-कुल-अनुगामी।

अब क्या है, बस वीर, बाण-से छूटो, टूटो,
सोनेकी उस शत्रुपुरी लंकाको लूटो!"
"नहीं-नहीं" सुन चौंक पड़े शत्रुघ्न और सब,
ऊषा-सी आ गई ऊर्मिला उसी ठौर तब!

खिंचती आई संग सखी, वह रोक न पाई,
मानो लतिका आप टूट आँधीसे आई।
आ शत्रुघ्न-समीप रुकी लक्ष्मणकी रानी,
प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेयके निकट भवानी!

जटा-जाल से बाल विलम्बित छूट पड़े थे,
आननपर सौ अरुण, घटामें फूट पड़े थे।
माथेका सिन्दूर सजग अंगार-सदृश था,
प्रथमातप-सा पुण्य गात यद्यपि वह कृश था।

बाँया कर शत्रुघ्न-पृष्ठपर कण्ठ-निकट था,
दायें करमें स्थूल किरण-सा शूल विकट था।
गरज उठी वह—"नहीं, नहीं, पापीका सोना,
यहाँ न लाना, भले सिन्धुमें वहीं डुबोना।

धीरो, धनको आज ध्यानमें भी मत लाओ,
जाते हो तो मान-हेतु ही तुम सब जाओ।
सावधान, वह अधम-धान्य-सा धन मत छूना,
तुम्हें तुम्हारी मातृभूमि ही देगी दूना।

किस धनसे हैं रिक्त कहो, सुनिकेत हमारे,
उपवन फल-संपन्न, अन्नमय खेत हमारे।
जय पशस्य-परिपूर्ण सुघोषित घोष हमारे,
अगणित आकर सदा स्वर्ण-मणि-कोष हमारे।

देव-दुर्लभा भूमि हमारी प्रमुख पुनीता,
उसी भूमिकी सुता पुण्यकी प्रतिमा सीता।
मातृभूमिका मान ध्यानमें रहे तुम्हारे,
लक्ष-लक्ष भी एक लक्ष रक्खो तुम सारे।

हैं निज पार्थिव सिद्धि-रूपिणी सीता रानी,
और दिव्य फल-रूप राम राजा बलदानी।
करे न कौणप-गन्ध कलंकित मलय पवनको,
लगे न कोई कुटिल कीट अपने उपवनको।

विन्ध्य-हिमालय-भाल भला झुक जाय न वीरो,
चन्द्र-सूर्य-कुल-कीर्त्ति-कला रुक जाय न वीरो।
चढ़कर उतर न जाय, सुनो कुलमौक्तिकमानी।
गंगा, यमुना, सिन्धु और सरयूका पानी!

बढ़कर इसी प्रसिद्ध पुरातन पुण्यस्थलसे,
किये दिग्विजय बार-बार तुमने निज बलसे।
यदि परन्तु कुलकान तुम्हारी हो संकटमें,
तो अपने ये प्राण व्यर्थ ही हैं इस घटमें।

किसका कुल है आर्य बना अपने कार्योंसे?
पढ़ा न किसने पाठ अवनितलमें आर्योंसे?
पावें तुमसे आज शत्रु भी ऐसी शिक्षा,
जिसका अथ हो दण्ड और इति दया-तितिक्षा।

देखो, निकली पूर्वदिशासे अपनी ऊषा,
यही हमारी प्रकृत पताका भवकी भूषा।
ठहरो, यह मैं चलूँ कीर्ति-सी आगे-आगे,
भोगें अपने विषम कर्म-फल अधम अभागे।"

भाग्य-भालपर तने हुए थे तेवर उसके,
"भाभी, भाभी," रुद्धकण्ठ थे देवर उसके।
सम्मुख सैन्य समूह सिन्धु-सा गरज रहा था,
बरज विनयसे उसे शत्रुपर तरज रहा था।

[असमाप्त

श्मशानके सींग

श्री श्रीराम शर्मा, बी० ए०

अपनी कुटीपर, खेतमें बाहर, चारपाईपर पड़ा हुआ एक समाचारपत्र पढ़ रहा था और पास ही बड़े भाई चाय बना रहे थे। इतनेमें एक चमार कुछ दूरपर आ खड़ा हुआ और बोला—"पाँइ लागूँ पंडितजी।"

मैं—"खुश रहो। क्या बात है? क्या कोई खेत काट ले गया, जो सुबह-ही-सुबह आया है।"

चमार—"नाँइ तो पंडितजी। खेतु-वेतु तो कोई नाँ काटि लै गयो। परि—"

मैं—"परि क्या? बोलता क्यों नहीं?"

चमार—"बोलूँ का? बड़े पंडितजी इल्ल (हल्ला) करेंगे।"

मैं—"तू कुछ कहे भी! आखिर बात क्या है?"

चमार (धीरेसे)—"आजु मैंने एक बड़ौ मतवारो (बढ़िया) कस्सेला हिन्नु (काला हिरन) देखौ है।"

मैं—"बस, यही बात थी! कहाँ देखा है?"

चमार—"खेरियाके ऊसरा माँऊ (ओर) जो मरघट है, मैंएं (वहीं) बु रहतु है। तुमाइ सौं (आपकी क़सम) पंडितजी, बाके सींग हूँ का बताऊँ! गंगाधाई (गंगाकी सौगन्द) जि मालिम पत्ति है के काऊने मूँढ़ पै दुऐ लठियाँ गाड़ि दै होंइ। और बु कारौ किट्टि है। परि सैज (सरलतासे) में मराई ना खवैया।"

मैं—"अच्छी बात है। आज तो देर हो गई है, कल देखा जायगा। तू उस ओर जो बन्दूककी आवाज़ सुने, तो आ जाना। ऐसा न हो कि कहीं तुम्हारे लिए मैं बैठा रहूँ।"

चमार—"हाय कऊँ (कभी) ऐसौ है सकतु है! हमाओ तौ और काम बनैगो। आगि दयो सिबरो तो खेतु खाएं जातु है। जो मरि गयो, तो ऐसे अकालमें लरिका-बारिनको पेटुई भरैगो। तो हूँ जाऊँ। पालागैं।"

× × ×

अगले दिन प्रातःकाल उठा और रायफल तथा छै-सात कारतूस लेकर खेरिया गाँवकी ओर बढ़ा। चार-पाँच मील जाना था, फिर शिकारका समय भी तो सुबह या शाम ही होता है। हिरन रातको खुले मैदानमें रहते हैं, और दो-एक सन्तरी बने निगहबानी करते रहते हैं, जो भयके समय सबको सचेत कर देते हैं। प्रातःकाल जाड़ेके दिनोंमें, धूप चढ़े, ओस छूटने तक खुली जगहोंमें धूप लेते रहते हैं, फिर चरनेके लिए खेतोंमें घुस जाते हैं। दोपहरके समय दो-एक टोली या दो-चार हिरन खुले मैदानोंमें भी आ जाते हैं। सायंकालको फिर खेतोंमें से निकलकर बाहर आ जाते हैं। इस विचारसे कि श्मशानवाला काला हिरन कहीं इधर-उधर न निकल जाय, मैं तेज़ीसे लपकता हुआ श्मशानकी ओर बढ़ा।

शिकार खेलनेमें अनेक दोष हों, पर लाभ भी अनेक हैं। 'कछु तुन्द घटे, कछु मेद कटे' के अतिरिक्त प्रकृतिका आनन्द और सूर्योदयसे पूर्व उठनेका मज़ा शिकारी ही जानता है। शीतकालका समय था। भंगीके घरकी ओरसे 'अरुण शिखा धुनि कान' पड़ रही थी—'कुकड़ूँ कूँ, कुकड़ूँ कूँ।' प्रभाका आभास था। जल्दी उठनेवाले आदमी कोई-कोई तालाबकी ओर शौचादिके लिए जा रहे थे। मैं भी रायफ़ल लिये चला जाता था। आगे चलकर देखा, तो दो गीदड़ हड्डियोंपर जुटे थे। मुझे देखकर भग गये। धीरे-धीरे पृथ्वीपर चहल-पहल दिखाई पड़ने लगी।

एक गाँवमें होकर निकला, तो लोगोंको अलावपर तापते पाया। गज़ी-गाढ़ेकी एक-एक चद्दर ओढ़े, सिरसे अँगोछा या पिछौरा लपेटे ताप रहे थे। कोई फू-फू करके आग तेज़ कर रहा था, तो कोई तम्बाकू पी रहा था। मुझे वहाँ होकर जाते देखपर सबने कहा—"पालागैं पंडितजी।" सबसे 'खुशी रहो' कहकर मैं आगे बढ़ने लगा। यह देखकर उनमें से एक बोला—"आओ पंडितजी, नैंक तापि लेउ। हाथ-पाइ ठिठुर गये होंइगे। आओ तापि लेउ।"

मैं—"नाँइ ठिठुरि गये। चलिबे सें देहमें गरमी आवति है। रुकिबेसूँ देर है जाइगी।"

एक—"आज सबेरे इ सबेरे कां जात औ?"

दूसरा (उसकी ओर दाँत पीसकर और धीरेसे)—"सिकारी कूँ खुपटत नाएं (टोकते नहीं)।"

मैं—"तुमैं ना मालिम पत्ति कां जात ऐं।"

एक बूढ़ा—"तो बु तौ मराई खातु ना पंडितजी। दस-बीस पोत (बार) तो पिरोजाबाद (फ़ीरोज़ाबाद) के सीसगरा (चूड़ी बनानेवाले) हैरानु है चुके हैं। वा पै निरी गोलीऊँ चलाई, परि सिबरी खाली गई। वा दिना, (एक लड़केकी ओर देखकर) अए वा दिना, जा दिना हमाएं कुआकी तार भई, ता दिना डिपटी सा'ब सिबरे दिन हैरानु भये, परि बु हाथ नाँइ आओ। बु तो मरघटाको हिन्नुऐ, सो बापै गोली असरु थोरेउ कत्ति ऐ।"

मैं—"ना कत्ति तो न सई। देखें तो।"

सब लोग—"पालागैं।"

'खुश रहो' कहकर मैं चल दिया। मेरे कानमें यह भनक पड़ी—'देखो, पंडितजी कैसे सूदे हैं। गाँव वान्निसूं गाँवकी बोली बोल्तऐं। हमारे बु लोधेके लौंडा है, सो नेक पढ़ि आओऐ, सो मुगली बानी बोल्तु है और पास्सी (फ़ारसी) की टाँग तोर ई डात्तुऐ।' गाँववाले विकट समालोचक होते हैं, और राय क़ायम करनेमें और राय बदलनेमें उन्हें देर थोड़ी ही लगती है। जब बातें करनेपर आते हैं, तो अपनी बातको वेद-वाक्य समझते हैं। गाँवके आसपास किसी रईसका बढ़िया मकान देख लिया, तो उनमें यहाँ तक बातें हो जाती हैं कि क्या आगरेका ताजमहल उसकी हवेलीसे भी अच्छा है। कोई छोटासा जंकशन स्टेशन देख लिया, तो बस उसकी प्रशंसामें ही दूसरेसे भिड़ पड़ेंगे और दूसरे मनुष्य द्वारा बताये स्टेशनको तुच्छ समझेंगे। मेरे पीछे उन्होंने अपने उथले समालोचना-तालमें न मालूम कितने गोते लगाये होंगे। मैं यह सोचता चला जाता था कि हिरन नहीं मरा, तो बड़ी भद्द होगी। चार-पाँच बार मैं ही प्रयत्न कर चुका हूँ, पर मेरे फ़ायर करनेकी बात लोगोंको मालूम न थी। यह बात मैंने चमारसे भी नहीं कही थी, पर मैं अपनी असफलताका कारण जानता था। बन्दूककी गोलीपर जादू-टोना नहीं चलता। भगवान कृष्णके पैरमें बहेलियाका तीर तक न चूका, तो फिर आजकलकी रायफ़लोंसे निकली गोलीको कौन रोक सकता है? जब निशाना ठीक है, तब गोली निशानेपर क्यों नहीं लगेगी? पहले फ़ायर इसलिए ग़लत पड़े कि दो तो भागतेमें लिये थे। सोचा था, कहीं अन्धेके हाथ बेटर लग जाय, और दो-एकमें दौड़-धूपके कारण दम फूल जानेसे हाथ हिल गया होगा। आज या तो फ़ायर ही नहीं होगा, और होगा तो सँभालकर होशियारीके साथ। बस, इसी उधेड़बुनमें श्मशान समीप आया। निर्दिष्ट स्थान अभी चार फ़र्लांग होगा। यह खयाल करके मैं रुका और सोचने लगा कि किस ओरसे चलना चाहिए, जिससे हिरन देखने न पाये और मैं मारकी दूरीपर पहुँच ही जाऊँ। श्मशानकी ओर पूर्वसे जाना ठीक ते पाया। हिरन श्मशानके पश्चिमी कोनेकी ओर प्रायः रहा करता था, क्योंकि पूर्वकी ओर खेत थे, जहाँसे उसपर लुक-छिपकर आक्रमण किया जा सकता था। पश्चिमकी ओरसे खुला था, इसलिए उधरसे उसके ऊपर वार करना कठिन था।

× × ×

बैठ-बैठकर, एक-एक क़दम सम्हाल-सम्हालकर रखता, ओसमें और मिट्टीसे टाँगें और जूते लथपथ किये, गेहूँके

खेतकी मेंड़के सहारे होता हुआ, उस स्थानसे, जहाँपर हिरनके मिलनेकी आशा थी, चार सौ गज़पर आ गया। चार सौ गज़से मैं प्रायः फ़ायर नहीं किया करता, पर यदि दूरीको एक इंच भी कम करता, तो हिरनकी नज़रमें आनेका भय था। मैं चाहता तो था कि तीन सौ गज़से फ़ायर करूँ, पर इतने पास पहुँचनेके मानी थे हिरनको भगा देना। इसलिए पहले तो वहीं बैठकर दम लिया, और जब साँस ठीक हो गई, तब सिरको टेढ़ाकर, गेहूँके पौधोंके सहारे उस ओर देखा। नज़र जो पड़ी, तो सामने एकान्तवासी, पीड़ित, विरक्त, हिरनियोंसे उपेक्षित तथा बहिष्कृत काला हिरन खड़ा था। अपूर्व दृश्य था। सूरजकी ताज़ी और सुखदायिनी किरणें उसके मुँहपर होती हुई पड़ रही थीं। वह पूर्वकी ओर मुँह किये खड़ा था। किरणें उसकी बग़लपर पूरी नहीं पड़ती थीं, इसलिए उसकी काली बग़लें और भी काली प्रतीत होती थीं, मानो किसीने तारकोल लगा दिया हो। हिरन निस्तब्ध खड़ा था। कदाचित् धूप ले रहा था। कभी-कभी एक-एक करके कान हिलता था, प्रातःकाल होनेसे मक्खियाँ नाक और आँखोंपर आती होंगी। कभी-कभी एक टाँग भी हिलाता था। एक बार उसने पुट्ठेपर खुजलाया भी। पेटकी खातिर वह शीघ्र ही वहाँसे सटकनेवाला था। उसका मुँह मेरी ओर था। मैं उसके अगले पुट्ठेपर—हृदयपर—निशाना लेना चाहता था। पर वह सामने था, इसलिए मैं प्रतीक्षामें बैठ गया कि जब चले, तब फायर करूँ। वह ग़ज़बका दृश्य था! एक तपस्वीकी भाँति वह अकेला खड़ा था। उसके भाइयोंने—नई जवानीकी बेहोशी और उमंगमें—उसे झुण्डके नेतृत्वसे न केवल च्युत ही कर दिया था, वरन सींगोंकी मारसे उसे प्रणय-पन्थसे भी वंचित कर दिया था। जब अपनी ढलती जवानीमें उसे और हिरनोंसे मुक़ाबिला पड़ा, तो उसे झुण्डकी मुखियागीरीसे हाथ धोना पड़ा। उसकी प्रणय-केलिके बाधक हिरनोंने पहले कुछ दिनों तक उसका कुछ खयाल किया, क्योंकि वे पहले दंडित हो चुके थे; पर जब उसकी जवानीका सूर्य तपकर मध्याह्नको पहुँच गया और धीरे-धीरे ढलने लगा, तब औरोंने उसको निकाल बाहर किया। शक्तिकी ही तो पूजा होती है। उसकी टाँग अब इतनी बलवती न रहीं, जो उसे प्रतिद्वन्द्वियोंसे बचा सकतीं। सींगोंमें वह ज़ोर न था, जिसका कोई खयाल करता। हिरनी भी उसके पास न जाती थीं। गर्दन ऊँचीकर, कानोंको सतरकर, मस्त चाल चलकर उसे अब रिझाना न आता था। हार मानकर उसे अपना झुण्ड छोड़ना पड़ा, और उसने श्मशानकी शरण ली। वहाँपर खड़ा मानो वह अपनी बीती ज़िन्दगीका सिंहावलोकन कर रहा था। जब पैदा हुआ होगा, उसकी माने कितने प्रेमसे चाट-चाटकर दूध पिलाया होगा। कुत्तों और भेड़ियोंसे बचानेमें उसे कितनी सावधानी रखनी पड़ी होगी। बड़े होकर जवानीमें एक पूरे झुण्डका स्वामी होकर उसने कैसे सुख भोगे होंगे। हाँ, अब वह अपनी वर्तमान बेबसीको ख़ूब समझता था। उस श्मशानमें और हिरन नहीं आते थे। उसके लिए वह श्मशानभूमि ऋष्यमूक पर्वतके समान थी। दरअसल दूसरे हिरनोंके लिए वहां कोई आकर्षण भी न था। एक झुण्डके लिए स्थान न था। इसलिए वह वहाँ अकेला रहा करता। दिन-भर चौकन्ना रहकर मील दो मीलकी परिधिमें खेतोंमें छिपकर चरा करता। शामको अँधेरेमें आता। रात-भर रहकर, सुबह फिर चला जाता। चौकन्ना वह इतना था कि आदमीकी सूरत देखकर भागता था, चाहे वह आदमी शिकारी हो अथवा भिखारी या किसान। इसीलिए वह शिकारियोंके हाथ न चढ़ता था। उसकी खालकी अपेक्षा उसके सींग बहुत अच्छे थे, इतने लम्बे कि उस इलाक़ेमें मैंने वैसे सींग नहीं देखे। हज़ारों मल्लयुद्धोंमें उसने अपने प्रतिपक्षियोंको हराया था। उसके सींगोंके सौन्दर्यपर हिरनियां मोह जाती थीं, और मैं भी उन्हीं सींगोंके लालचसे आया था। रायफल भरी थी। चार सौ गज़का निशाना लगाया। ज़रा बग़ल दे, तो Trigger खींचूँ, पर वह अचल, उसी आसनपर, खड़ा था। पासके एक खेतसे एक लोमड़ी 'खौ खौ खौ, खौ खौ खौ' बोलती हुई

मेरी ओर आ रही थी। पर वह उसकी आवाज़का अभ्यस्त था। नर-लोमड़ी मादाका आह्वान कर रही थी। दिसम्बर-जनवरी उनके जोड़ेका समय होता है। लोमड़ी मेंड़पर होती हुई ज्यों ही एकदम मेरी मेंड़पर मुड़ी तो मुझे देख दुम दबाकर श्मशानकी ओर भागी। हिरनने चौकन्ना होकर छलांग-भरी और जिस ओरसे लोमड़ी भगी थी, उसी ओर वह खड़ा होकर देखने लगा।

× × ×

फायर हुआ। चारों ओर आवाज़ फैल गई। आसपासके हिरनोंके दिल दहल गये। काला हिरन उछला। खूनके फ़ौवारे चल गये। एक बार वह गिरकर रेंगा। पैर छटपटाता था और अपने भूशायी शीशको धुन रहा था। गोली लगी थी, पर हृदयपर नहीं, पेटसे तनिक नीचे, इसीलिए यह घबराहट थी। मैं फायर करके खड़ा हुआ इधर-उधर देखने लगा, पर वहांपर मेरे निशानेको देखनेवाला प्राकृतिक शक्तियोंके अतिरिक्त और कोई न था।* जब मैं हिरनके पास पहुँचा, तब उसके सींग और भी बड़े मालूम हुए। कोई पचीस-छब्बीस इंचके! मैं वहाँ बैठा ही था कि हिरन एकदम चौंककर उठा और दुलकी चालसे भागा।

यह देखकर मेरे आश्चर्यकी सीमा न रही। मरा-मराया हिरन उठ भागा! बेहद खून पड़ा था, पर कोई आश्चर्यकी बात न थी। गोली अँतड़ियोंमें लगी थी। सब पेट भुनसा-गया होगा। धक्केके मारे गिर गया। मरेगा वैसे भी। यदि मैं वहां न आता, तो भी मर जाता; परन्तु मेरे आनेसे उसने अपनी बची-खुची ताक़त लगाई और उठ गया। मैंने पीछा किया। चोटके कारण तेज़ तो जा ही नहीं सकता था। आगे-आगे चला जाता था और मुड़-मुड़कर मेरी ओर कातरदृष्टिसे देखता जाता था। अँतड़ियां उसकी पेटके बाहर लटक रही थीं। मुँह फाड़कर हांफने लगा। मुझसे यह दृश्य न देखा गया। यदि किसीको मारना हो, एकदम मारना चाहिए। धीरे-धीरे किसीकी जान लेना बहुत ही बुरा है। झटसे एक दूसरी गोली मारी और वह धड़ामसे गिर गया।

× × ×

चमार खाल खींच रहा था। ऊपर गिद्ध मँडरा रहे थे। मांसकी तिक्का-बोटी तो वहीं हो गई, बल्कि बहुतसे उससे वंचित रहे। प्राकृतिक म्यूनिसिपैलिटीके सदस्यों—गिद्धों—को अँतड़ियां ही मिलीं।

खाल और सींग रखाकर गाँवकी ओर आया। सींग और खाल बननेके लिए देहरादून भेजे गये, और बनकर आ भी गये। बहुत बढ़िया थे, पर मुझे उनसे हिरनकी अन्तिम घड़ियोंकी वह कातरदृष्टि स्मरण हो आती थी। उनका अपने पास रखना असह्य था, इसलिए वह खाल और सींग एक अमेरिकन मित्रको भेंट कर दिये।

अमेरिकामें वे सींग दीवारपर लगे अब भी उस हिरनका स्मरण दिलाते हैं, और कदाचित् मेरे मरनेके बाद भी—जब इस शरीरके पंचतत्त्व उस हिरनके पंचतत्त्वके समान परिमाणुओंसे मिल जायँगे—वे श्मशानके सींग मेरी उस निर्दय हत्याके मूक स्मारक बने रहेंगे।

* देखनेवाला तो एक और भी था! —सम्पादक

भारतमें गृह-उद्योग-धंधेकी आवश्यकता

श्री शंकरसहाय सक्सेना, एम० ए०, बी० काम०

भारतवर्ष जैसा विशाल देश—जिसमें पृथ्वीकी समस्त जनसंख्याका पाँचवाँ भाग[1] निवास करता हो और जिसकी भूमि उपजाऊ तथा प्रकृतिकी देनसे भरी हुई होनेपर भी—पृथ्वीके समस्त देशोंमें सबसे निर्धन है, यह आश्चर्य नहीं तो क्या है। भारतीयोंकी निर्धनताके विषयमें तो विद्वानोंके दो मत नहीं हैं। यहाँ तक कि स्वयं भारत-सरकारने भी अपनी वार्षिक रिपोर्टमें स्वीकार किया है—"जिस दशामें इस देशकी अधिकतर जनसंख्या अपना जीवन व्यतीत करती है, वह इतनी बुरी है, जितनी सम्भवत: हो सकती है।"[2] इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्रके विद्वानोंने भी भारतीयोंकी वार्षिक आयका अनुमान किया है। यद्यपि प्रत्येक दशामें वार्षिक आयके अंक भिन्न हैं, फिर भी उनसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि भारतीयोंकी आर्थिक दशा कितनी शोचनीय है। सर्वप्रथम दादा भाई नौरोजीने सन् १८६७ में भारतीयोंकी सिर पीछे वार्षिक आय २०) अनुमान की थी। इसके पश्चात् बहुतसे विद्वानोंने वार्षिक आयका अनुमान किया, परन्तु अभी हालमें ही बम्बई और मदरास प्रान्तकी सरकारोंने वार्षिक आयकी जाँच की है, और उनके अनुमानसे ग्रामोंमें ७५) तथा नगरोंमें १००) प्रति मनुष्य वार्षिक आय[3] होती है। इन दोनों प्रान्तीय सरकारोंका अनुमान अतिशयोक्तिपूर्ण है, और यह सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है कि भारतमें सिर पीछे आय ५०) से अधिक है। मेरे अनुमानसे तो सिर पीछे वार्षिक आय ४५) ही होती है। अब पृथ्वीके अन्य देशोंकी सिर पीछे वार्षिक आय देखिये। ग्रेट ब्रिटेन ७५०), संयुक्तराज्य अमेरिका १०८०), जर्मनी ४५०) तथा एशियाके उन्नत राष्ट्र जापानकी १००) है। ये अंक महायुद्धके पूर्वके हैं। ऊपर लिखे हुए अंकोंको देखनेसे भारतकी शोचनीय आर्थिक दशाका थोड़ासा अनुमान किया जा सकता है। इस दरिद्रताकी भयंकरता और भी बढ़ जाती है, क्योंकि देशकी समस्त आयका ३३ प्रतिशत तो केवल १ प्रतिशत जनसंख्या भोगती है, और लगभग ३५ प्रतिशत जनसंख्या कुल आयका तिहाई भोग रही है। अब जो ६४ प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या बची, उसके भोगके लिए केवल ३० प्रतिशत आय ही बचती है। दूसरे शब्दोंमें इसका अर्थ यह है कि जो दरिद्र हैं, उनकी वार्षिक आय २०) से अधिक नहीं है। विचारनेकी बात तो यह है कि इन बीस या पचीस रुपयेमें एक मनुष्य वर्ष-भरके लिए भोजन-सामग्री भी नहीं जुटा सकता, अन्य आवश्यकताओंके पूरी करनेकी बात तो जाने दीजिए। इससे यह बात स्पष्ट है कि इतनी कम आयमें भर पेट भोजन नहीं मिल सकता। विलियम डिगबी[1]के कथनानुसार इस अभागे देशमें लगभग दस करोड़ मनुष्य ऐसे हैं, जिनको दिनमें एक बार भी पेट-भर भोजन नहीं मिलता। यह तो रही निर्धनवर्गकी बात, परन्तु मध्यवर्गकी जनसंख्याकी अवस्था भी अच्छी नहीं है। भारतवर्षकी भयंकर निर्धनताका अनुमान तो केवल इस बातसे ही लगाया जा सकता है कि जितनी वार्षिक आय इस देशके ३१ करोड़ ६० लाख मनुष्योंकी है, उतना व्यय ग्रेट ब्रिटेनके ४ करोड़ २० लाख निवासियोंका केवल भोजन और शराब पर होता है!

---

१ १९३१ की गणनाके अनुसार भारतवर्षकी जनसंख्या ३५ करोड़से ऊपर है।

२ India in 1927-28, पृष्ठ ८८

३ अन्य विद्वानोंके अनुमान निम्न-लिखित हैं। विलियम डिगबी १७॥ रु०, लार्ड कर्जन ३० रु०, जोशी वाडिया ४४ रु०, खम्बाता ७४ रु०, प्रो० काले ४० से ४८ रु०, बालकृष्ण ७१ रु० और शिराज १०७ रु०।

१ William Digby—Prosperous British India.

प्रश्न हो सकता है कि इस भयंकर दरिद्रताका कारण क्या है ? इसका उत्तर स्पष्ट है—"भारतवर्षमें उत्पत्तिका साधन केवल भूमि है, अर्थात् अधिकांश भारतवासी खेती-बारी ही करते हैं। इस देशमें ७३'६ प्रतिशत जनसंख्या तो प्रत्यक्षरूपसे और १५ प्रतिशत जनसंख्या अप्रत्यक्षरूपसे भूमिपर ही अवलम्बित है। यह असंख्य जनसंख्या इसी भूमिसे भोजन उत्पन्न करती है और वह कच्चा माल उत्पन्न करती है, जिसके बदलेमें बाहरसे पक्का माल मँगाया जाता है। जो कुछ भी उपजाऊ भूमि देशमें उपलब्ध थी, सब जोत डाली गई। यहाँ तक कि पशुओंके लिए जो चारागाह गाँवोंमें सुरक्षित रखे जाते थे, वे भी खेत बना डाले गये; फिर भी भूमि पूरी नहीं पड़ती। इसके दो कारण है; एक तो जनसंख्या क्रमशः बढ़ रही है, दूसरे गृह-उद्योग-धन्धे—जिनमें बहुतसे मनुष्य कार्य करते थे—विदेशी मालकी प्रतिद्वन्द्विताके कारण नष्ट होते जा रहे हैं। इसीलिए इन धन्धोंके करनेवाले भी अब खेती-बारी ही करके निर्वाह करते हैं। क्रमशः और धन्धोंको छोड़कर जनसंख्या खेती-बारीमें लग गई। सन् १८९१ में ६२ प्रतिशत जनसंख्या खेती-बारीमें लगी हुई थी, परन्तु १९०१ की गणनाके अनुसार ६८ प्रतिशत, १९११ में ७३ प्रतिशत और १९२१ की मनुष्य-गणनामें कृषकोंकी संख्या ७४ प्रतिशतके लगभग है। इन अंकोंसे यह स्पष्ट है कि जनता खेती-बारीको अधिकाधिक अपनाती जाती है और व्यापार तथा उद्योग-धन्धोंको छोड़ती जाती है। इसका फल यह हुआ है कि प्रतिमनुष्य पीछे भारतवर्षमें एक एकड़ भूमि पड़ती है, और इसी एक एकड़ भूमिपर वह निर्वाह करता है। श्री मुलहुलका कथन है कि प्रत्येक मनुष्यके लिए कम-से-कम दो एकड़ भूमि आवश्यक है। यदि दो एकड़से कम भूमि है, तो देशको भोज्य पदार्थ बाहरसे मँगाना पड़ेगा। ध्यान रहे कि श्री मुलहुलका कथन पश्चिमीय देशोंकी प्रतिएकड़ पैदावारपर निर्भर है। भारतवर्षकी प्रतिएकड़ पैदावार उन देशोंसे आधीसे भी कम है, इसलिए श्री मुलहुलके विचारानुसार यहाँपर दो एकड़ भूमिसे भी अधिक भूमि प्रतिमनुष्य होनी चाहिए। यहाँ तो मनुष्यका भोजन उत्पन्न करनेमें केवल दोतिहाई भूमि ही काम आती है। एकतिहाई भूमिमें वह कच्चा माल उत्पन्न किया जाता है, जो बाहर भेजा जाता है। इस प्रकार भारतवर्षमें दोतिहाई भूमि ही मनुष्यको भोजन देती है। यही कारण है कि हम लोगोंको पेट-भर भोजन नहीं मिलता, क्योंकि दोतिहाई एकड़ भूमि मनुष्यके लिए पर्याप्त भोजन उत्पन्न नहीं कर सकती।

भारतवासियोंकी दरिद्रताका एक मुख्य कारण यह भी है कि यहाँपर उत्पत्तिका साधन केवल भूमि ही है। भूमि कम होनेसे और जनसंख्याके अधिक होनेसे प्रतिमनुष्य उत्पत्ति बहुत कम होती है। यह तो एक मोटा सिद्धान्त है कि देशमें जितनी उत्पत्ति होगी, उतना ही जनसंख्या उपभोग कर सकेगी। भारतीय अधिकतर खेती-बारीमें ही लगे रहते हैं, और उत्पत्ति अधिक होती नहीं। दूसरे कृषिका धन्धा बहुत अनिश्चित है। यदि समयपर वर्षा न हुई अथवा टिड्डी तथा फसलके अन्य शत्रुओंने फसलको नष्ट कर दिया, तो देश-भरमें अकाल पड़ जाता है। यदि इतनी अधिक जनसंख्या केवल एक धन्धेपर निर्भर न रहे, तो अकाल इतने भयंकर कदापि नहीं हो सकते। दुर्भिक्ष-कमीशनकी भी यही राय थी कि केवल एक धन्धेमें लगे रहनेका ही यह फल है कि दुर्भिक्ष इतने भयंकर होते हैं। साथ-ही-साथ यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि इस समय देशमें असंख्य जनसंख्याके भरण-पोषणका जो भयंकर बोझ भूमिपर लदा हुआ है, उसको भूमि भलीभाँति सँभाल नहीं सकती, और यही कारण है कि दस करोड़के लगभग भारतीयोंको भर पेट भोजन भी नहीं मिलता।

अब प्रश्न यह है कि इस भयंकर दुर्दशासे किस प्रकार छुटकारा हो। यही समस्या भारतीय विद्वानोंके सामने खड़ी है। एक दलका कथन है कि वैज्ञानिक ढंगसे खेती-बारी की जाय और पैदावारको बढ़ानेका प्रयत्न किया जाय। उसका

विचार है कि भारतकी भौगोलिक तथा प्राकृतिक अवस्था ऐसी है कि खेती-बारी ही यहाँपर अधिक सफल हो सकती है। उसकी सम्मतिमें भारतवर्ष उद्योग-धन्धोंके लिए अधिक उपयुक्त नहीं, यहाँ तो अधिकतर उत्पत्ति खेतीको उन्नत करके ही बढ़ाई जा सकती है। यही सम्मति कतिपय विदेशी विद्वानोंकी भी है। यद्यपि इसमें बहुत कुछ सत्य है, परन्तु भारतीय विद्वानोंकी रायमें यदि भारतवर्ष केवल अन्य देशोंके लिए कच्चा माल ही उत्पन्न करनेवाला देश बना रहा, तो स्थिति भयंकर हो जायगी और भारत निर्धन ही बना रहेगा। उन लोगोंकी सम्मतिमें उद्योग-धन्धोंकी उन्नति देशको सम्पत्तिशाली बनानेके लिए आवश्यक है। परन्तु यहाँपर भी दो मत हैं, एक दल तो भारतको मिलों और कारखानोंसे भरा हुआ देश देखना चाहता है। वह देखता है कि जब ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, संयुक्तराज्य अमेरिका और जापान बड़े-बड़े कारखानोंके कारण ही धनी बन गये और अपनी पूँजीको अन्य देशोंमें लगाकर लाभ उठा रहे हैं, साथ ही वह जब देखता है कि विदेशी पूँजीपति भारतवर्षमें आकर यहाँ कारखाना खोलते हैं और भारतीयोंको केवल कुलीकी मज़दूरीके सिवा और कुछ भी नहीं मिलता, तो वह सहसा यही कहता है कि भारतवर्षको भी यही नीति स्वीकार करनी चाहिए, जिससे भारतवर्ष अपने कच्चे मालको बाहर न भेजकर तैयार मालको बाहर भेजा करे। दूसरे दलके विद्वान इस नीतिको भारतवर्षके लिए लाभदायक नहीं बतलाते। उनका कथन है कि भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है, और भविष्यमें भी यह कृषिप्रधान देश रहेगा। यदि यह प्रयत्न किया गया कि भारत भी इंग्लैंडकी भाँति औद्योगिक देश हो जाय, तो समस्त देशमें एक महान् सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हो जायगा। इसलिए इस वर्गके लोग भारतवर्षको कृषिप्रधान देश रखकर गृह-उद्योग-धन्धोंकी उन्नति करना चाहते हैं। तीनों ही दलोंके विद्वान अपने-अपने मतकी पुष्टिमें बहुत कुछ लिख चुके हैं।

हमें देखना यह है कि भारतवर्षकी आर्थिक उन्नतिके लिए कौनसी नीति ठीक होगी। यह तो स्पष्ट ही है कि भारत इस समय तो कृषकोंका देश है। जिस देशमें किसानोंकी संख्या देश-भरकी जनसंख्याकी ७३'६ प्रतिशत हो, वह देश यदि किसानोंका देश नहीं तो और क्या है? खेती बारी ही यहाँका सबसे महत्त्वपूर्ण धन्धा है। देशमें उत्पत्तिका साधन यही है, फिर भी इस धन्धेकी जैसी शोचनीय दशा है, वह सभी जानते हैं। जहाँ और देशोंकी प्रतिएकड़ पैदावार बढ़ानेका प्रयत्न किया जा रहा है और कृषिशास्त्रके विशेषज्ञ अपने देशमें अधिक भोजन उत्पन्न करनेका प्रयत्न कर रहे हैं, वहाँ भारतवर्षमें पैदावार और भी कम हो रही है! गेहूँ भारतवर्षका मुख्य भोज्य पदार्थ है, फिर भी एक एकड़में हमारे यहाँ इंग्लैंडसे आधा गेहूँ उत्पन्न होता है। चावलकी उपज भी और चावल उत्पन्न करनेवाले देशोंसे कम है। गन्नेकी पैदावारकी तो और भी शोचनीय दशा है। जावा और क्यूबामें यहाँसे तिगुना-चौगुना गन्ना प्रतिएकड़ उत्पन्न किया जाता है। रुईके अंकोंको भी देखिये, भारतवर्षमें प्रतिएकड़ ६० पौंड, अमेरिकामें ४०० पौंड तथा मिस्रमें २५० पौंड रुई उत्पन्न होती है। इसका कारण क्या है? यह तो छिपी हुई बात नहीं है। भारतवर्षमें अबाध्य व्यापार-नीतिको स्वीकार करनेके कारण यहाँके घरेलू धन्धे विदेशी वस्तुओंकी प्रतिद्वन्द्वितामें न ठहर सके। फल यह हुआ कि उद्योग-धन्धोंमें लगे हुए कारीगर तथा मज़दूर खेती करने लग गये। अभाग्यवश भूमिको बढ़ाना मनुष्यके हाथकी बात नहीं है। हाँ, जो जोती जाने योग्य भूमि चारागाहोंके लिए पड़ी थी, वह भी जोत डाली गई। पशु और मनुष्यमें भूमिके लिए होड़ होने लगी। मनुष्य सबल होनेके कारण विजयी हुआ और पशु बिना चारेके निर्बल होकर मरने लगे! यदि देखा जाय, तो किसानोंके पास इतनी कम भूमि है कि उसपर खेती-बारी सफलतापूर्वक हो ही नहीं सकती। खेतोंको बाँट-बाँटकर इतना छोटा कर दिया गया है कि कहीं-कहीं तो एक-एक क्यारीके बराबर खेत रह गये हैं। फिर भी ये टुकड़े पासपास नहीं हैं; एक-एक भूमिका टुकड़ा बहुत दूरपर होता है, जिसका फल यह होता है कि किसान एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेमें, उसे सींचनेमें

तथा उसकी रखवाली करनेमें बहुतसा समय और धन व्यर्थमें नष्ट करता है, फिर भी अच्छी पैदावार नहीं होती। इसके अतिरिक्त बेचारा किसान इतना निर्धन और अशक्त है तथा महाजनके सूदके भयंकर बोझसे वह इतना दबा हुआ है कि वह खेती-बारीमें कोई भी उन्नति नहीं कर सकता। कृषि-कमीशनने इन सभी प्रश्नोंपर अपनी सम्मति प्रकट की है, और इन अड़चनोंको दूर करनेकी युक्तियाँ भी बताई हैं। अब प्रश्न यह होता है कि यदि किसान इस छोटेसे भूमिके टुकड़ेपर ही वर्ष-भर कार्य करता रहे, तो वह अपने कुटुम्बके लिए यथेष्ट भोजन और वस्त्र उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिए उसकी उत्पादनशक्ति बढ़ाना चाहिए, नहीं तो यह भयंकर निर्धनता यहाँसे दूर नहीं हो सकती। उसके लिए युक्तियाँ दो ही हैं; एक तो वर्तमान भीमकाय पुतलीघर स्थापित करना और किसानोंको इनमें कार्य करनेके लिए उत्साहित करना। दूसरे घरेलू उद्योग-धन्धोंकी उन्नति करना, जिससे खेती-बारीके साथ-ही-साथ अवकाशके समयमें किसान इन धन्धोंके द्वारा अपनी आयको बढ़ा सके। पहली स्थितिमें उन बहुतसे गाँवोंके मज़दूरोंको जिनके पास भूमि नहीं है और किसानोंकी मज़दूरी करके पेट पालते हैं, बड़े-बड़े शहरोंमें जाकर रहना होगा। इनके अतिरिक्त उन किसानोंको भी गाँव छोड़ना होगा, जिनके पास कम भूमि है और वे अपना उदर पालन नहीं कर सकते। ऐसा अनुमान किया जाता है कि समस्त भूमिको जोतने और बोनेके लिए, मशीनोंकी सहायता लेकर, केवल ३३ प्रतिशत मनुष्य ही पर्याप्त हैं। ऐसी दशामें ४० प्रतिशत मनुष्य कारखानोंमें काम करके देशमें उद्योग-धन्धोंकी उन्नति कर सकते हैं। जो इस मतके समर्थक हैं, उनका कहना है कि यदि ऐसी स्थिति देशमें आ जाय, तो फिर भारतवर्ष भी अमेरिका, जर्मनी और ब्रिटेनकी तरह धनी देश हो जाय और खेती-बारीकी दशा भी सुधर जाय। परन्तु वे ऐसा कहते समय यह भूल जाते हैं कि इस परिवर्तनका प्रभाव देशपर क्या होगा और इसमें हमें कहाँ तक सफलता मिलेगी। बम्बई और कलकत्तेमें मज़दूर जो नारकीय जीवन व्यतीत करते हैं, उसे यहाँ मैं दुहराना नहीं चाहता। मैं तो केवल यही कहना चाहता हूँ कि आज उद्योग-धन्धोंमें लगी हुई जनसंख्या केवल नाममात्रको है, फिर भी ये मज़दूर ऐसा घृणित जीवन व्यतीत करते हैं कि जिसे देखकर घृणाको भी घृणा होती है। मकानोंकी कमीके कारण तथा स्वच्छ वायु न मिलनेके कारण मज़दूर अपनी स्त्रियोंको अपने गांवोंमें ही छोड़ जाते हैं। भारत-जैसे गरम देशमें मज़दूर ग्यारह-बारह घंटे मशीनोंके साथ मशीन बनकर घिरे हुए कारखानोंमें काम करते हैं, जिससे उनका शरीर सन्ध्या समय इतना थक जाता है कि उसको कुछ विश्राम देनेके लिए वे अधिकतर शराबकी दूकानपर अथवा वेश्याके गृहमें जाते हैं। बम्बई और कलकत्तेमें १०० मनुष्योंमें केवल ४० स्त्रियोंका औसत है, फिर यदि व्यभिचारकी वृद्धि हो, तो आश्चर्य ही क्या। फल यह होता है कि कारखानोंमें कार्य करके मज़दूर अपनी आयुको घटाते हैं और समयसे पूर्व ही संसारको छोड़ जाते हैं। इसलिए देशके स्वास्थ्यको अच्छा रखनेके लिए यह आवश्यक है कि मज़दूर गांवोंको न छोड़ें। ग्रेट ब्रिटेनके विद्वानोंका भी यही अनुभव है, और यही कारण है कि वहांकी सरकार अब नवयुवकोंको गांवोंमें ही ठहरनेके लिए उत्साहित कर रही है। उनके लिए घर बनाये जाते हैं। भूमिपर उन्हींका अधिकार माना जाता है, क्योंकि वहांके राजनीतिज्ञ देख रहे हैं कि नगरके आकर्षणने नवयुवकोंको खींच लिया है, और नगरोंमें वे स्वास्थ्यको खो बैठते हैं। यह स्थिति वास्तवमें किसी भी राष्ट्रके लिए भयंकर है।

भारतवर्षमें एक तो साधारणतया स्वास्थ्य उतना अच्छा नहीं है, और यदि अभाग्यवश हमारे यहां भी औद्योगिक उन्नतिकी धुनमें गांवोंको नष्ट कर दिया गया, तो जातिका स्वास्थ्य नष्ट हो जायगा। इसके अतिरिक्त एक और बात ध्यान देनेके योग्य है कि जब ग्रेट ब्रिटेनकी चार करोड़ जनसंख्या पुतलीघरोंमें कार्य करके इतना माल उत्पन्न कर देती है कि वहांके व्यवसाइयोंको यह आवश्यक प्रतीत होता है कि भारतवर्ष
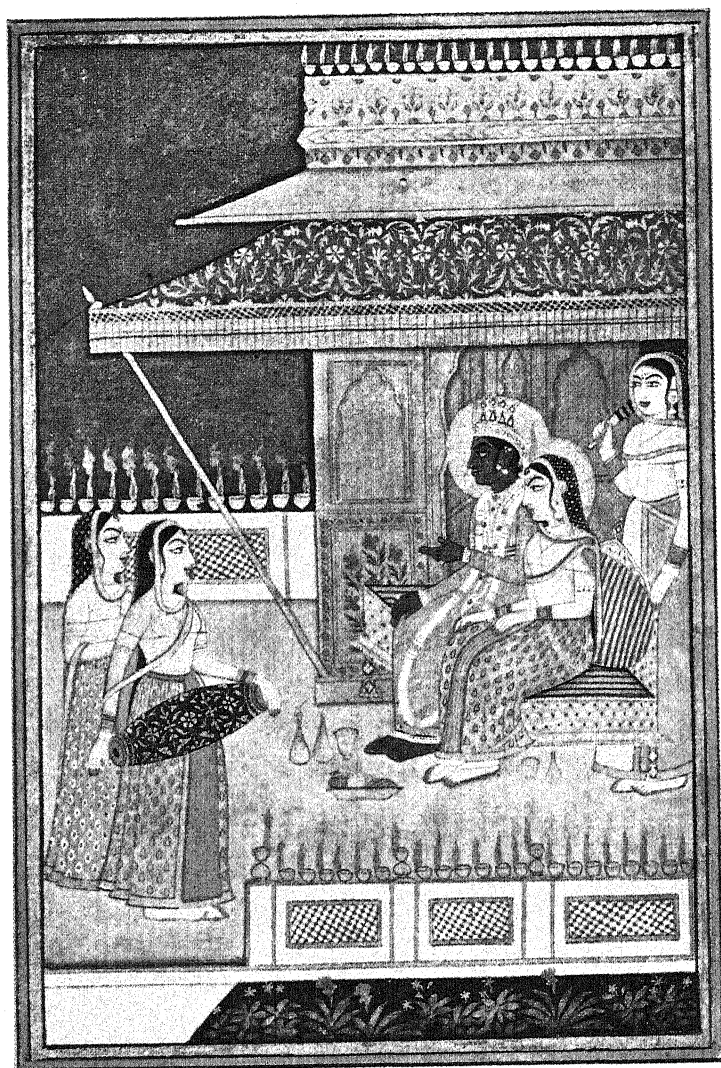
दीपक राग

"विशाल-भारत"] [एक प्राचीन चित्र

तथा और भी अनेक उपनिवेश सर्वदा पराधीन बनाये रखे जायँ, जिससे उनके मालकी खपत होती रहे; जब संयुक्तराज्य अमेरिकाको यह आवश्यक प्रतीत होता है कि अपने व्यापारको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिए फिलीपाइन-द्वीपों तथा दक्षिण-अमेरिकाके प्रदेशोंपर अपना आधिपत्य बनाये रखा जाय, जब जापानको कोरियाको अपनी अधीनतामें रखनेकी आवश्यकता अनुभव होती है, जब जर्मनीको इतना भयंकर युद्ध ठाननेकी आवश्यकता इसीलिए प्रतीत हुई कि उसके कारखानोंकी वस्तुओंकी खपतके लिए कोई क्षेत्र ही नहीं था, तब यदि भारतवर्ष भी उतना ही औद्योगिक देश बन जाय, तब परिस्थिति क्या होगी? सम्भवत: समस्त संसारको ही भारतवर्ष अपना क्षेत्र बनानेकी फिक्रमें रहेगा! भीमकाय पुतलीघरोंका जो वर्तमान स्वरूप ट्रस्ट और कार्टलके रूपमें प्रकट हुआ है, वह पूँजीवादकी भयंकर शक्तिको प्रकट करता है। जर्मनी और अमेरिका जैसे देश भी इन पूँजीपतियोंकी भयंकर शक्तिसे चिन्तित हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि इस देशके लिए पश्चिमीय ढंगको अक्षरश: अपनाना भयंकर भूल होगी। यहांका वातावरण ही भिन्न है, इसलिए हमें उसका भी ध्यान रखना होगा।

इसका अर्थ यह नहीं है कि बड़े-बड़े कारखाने बिलकुल ही न खोले जायँ। जिन धन्धोंमें बड़े कारखाने खोले बिना काम नहीं चल सकता, वहां तो बड़े कारखाने खोलना अनिवार्य होगा, परन्तु जो धन्धे घरेलू ढंगसे चलाये जा सकते हैं, उनकी उन्नति करना देशका कर्तव्य है, नहीं तो यहांकी आर्थिक दशा सुधर नहीं सकती। इंजीनियरिंग, मशीन बनानेके कारखाने तथा रेल इत्यादिके कारखाने छोटे रूपमें सफलतापूर्वक नहीं चल सकते। डा० राधाकमल मुकर्जीके विचारोंपर प्रत्येक अर्थशास्त्रके विद्वानको ध्यान देना चाहिए। उनका कहना है कि भारतवर्षकी ग्राम-संस्था इतनी प्राकृतिक तथा उपयुक्त है कि यदि वह नष्ट हो गई, तो देशकी आर्थिक स्थिति ही नहीं, सामाजिक स्थितिमें भी इतना भयंकर परिवर्तन होगा कि वह देशके लिए लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए गांवोंमें और भी जीवन डालनेके लिए दो बातोंकी आवश्यकता है; एक तो उत्पत्तिको बढ़ाना, दूसरे ग्रामोंकी संस्थाओंको फिरसे संगठित करना। उत्पत्तिको बढ़ानेके दो साधन हैं; एक तो खेती-बारी वैज्ञानिक ढंगसे हो, दूसरे गृह-उद्योग-धन्धोंको बढ़ाया जाय। किसी भी कृषक देशके लिए गृह-उद्योग-धन्धे आवश्यक वस्तु हैं, क्योंकि खेती-बारी ऐसा धन्धा है, जिसमें किसान वर्ष-भर नहीं लगा रह सकता, इसलिए अवकाशके समय उत्पत्तिका साधन गृह-उद्योग-धन्धे ही हैं। जापानका किसान रेशमके कीड़ोंको पालनेका काम करता है। स्विट्ज़रलैंडका किसान अपने अवकाशके समयमें अपने गांवमें घड़ियां, कपड़ा, लकड़ीका सामान तथा डलियां बनाता है। फ्रान्सका किसान लेस, लकड़ीकी मेज़, कुरसी इत्यादि, रेशमी कपड़ा, सिगार तथा जूते और सिलाईका काम करता है। जर्मनीके भिन्न भागोंमें खिलौने बनाने तथा कपड़ा बिननेका काम होते हैं। डेनमार्क, रूस, बल्गेरिया तथा अन्य देशोंमें भी घरेलू उद्योग-धन्धे अच्छी अवस्थामें मिलते हैं, और वहांके औद्योगिक विभाग इन धन्धोंको उन्नत करनेके ढंग सोचा करते हैं।

कुछ अर्थशास्त्रज्ञोंका कथन है कि बड़े-बड़े कारखानोंकी प्रतिद्वन्द्वितामें घरेलू धन्धे कैसे टिक सकते हैं? उनको इस बातपर विश्वास ही नहीं होता कि घरेलू धन्धोंमें ऐसी शक्ति है कि वे सफलतापूर्वक बड़े-बड़े कारखानोंकी प्रतिद्वन्द्वितामें टिक सकते हैं। बेल्जियममें ६४ प्रतिशत छोटे कारखानोंमें माल बनता है, जर्मनीमें ६० प्रतिशत, फ्रान्समें ८० प्रतिशत, डेनमार्कमें ७६ प्रतिशत और संयुक्तराज्य अमेरिकामें ६१ प्रतिशत माल छोटे कारखानोंमें उत्पन्न होता है।* इन अंकोंको देखनेसे यह तो स्पष्ट ही हो गया कि संसारके उन देशोंमें भी जहां बड़े-बड़े कारखानोंकी प्रधानता है, छोटे-छोटे कारखाने नष्ट नहीं हो गये, वरन यथेष्ट संख्यामें मौजूद हैं। जर्मनीके औद्योगिक विभागको तो एक नवीन अनुभव हुआ।

* यह अंक डा० राधाकमल मुकर्जीकी पुस्तक 'Ground Work of Economics', पृष्ठ १८७ से लिये गये हैं।

जर्मनीके उन भागोंमें जहाँ सनका कपड़ा बनाया जाता है, चरखोंके द्वारा सन काता जाता हैं। ओल्डनबर्ग, वर्मन इत्यादि रियासतोंमें सनके कपड़े बनानेके लगभग २४० कारखाने ऐसे हैं, जहां हाथसे काम होता है। बवेरियामें हाथसे चलाये जानेवाले चरखोंकी संख्या पाँच लाख है। उसी प्रकार सैक्सनी और सिलीसियाके ज़िलोंमें भी हाथसे लिनेन (सनका कपड़ा) तैयार किया जाता है। आश्चर्यकी बात तो यह है कि बड़े-बड़े कारख़ाने हाथके बने हुए मालके सामने नहीं ठहर सकते ! भारतवर्षमें भी घरेलू उद्योग-धन्धोंने आश्चर्यजनक शक्तिका प्रदर्शन किया है, यद्यपि यहां उन्हें कोई सहायता नहीं मिली। जिन नियमोंके अनुसार पश्चिमीय देशोंमें घरेलू उद्योग-धन्धे संगठित रूपमें चल सके हैं, उनपर यहां किसीने ध्यान ही नहीं दिया। इस कारण क्रमश: उनकी शक्तिका ह्रास होता जा रहा है। यदि इस समय भी उनका संगठन सहकारी समितियों (Co-operative Societies) के द्वारा कर दिया जाय, तो ये धन्धे फिर उन्नत हो सकते हैं।

भारतवर्षके घरेलू धन्धोंमें कपड़े बुनने और चरखा कातनेका धन्धा बहुत प्राचीन है। यद्यपि चरखा तो आज दिन गांवोंमें लुप्तप्राय: हो गया है, परन्तु करघा अभी तक कारखानोंकी प्रतिद्वन्द्वितामें ठहरा हुआ है। आसाम प्रान्तमें तो आज तक जिस प्रकारसे किसानकी स्त्री रोटी तैयार करती है, उसी प्रकार वर्ष-भरके लिए कपड़ा भी बुन लेती है। नीचे लिखे अंकोंसे इस धन्धेकी शक्तिका पता लग जायगा।

प्रान्त	करघोंकी संख्या
अजमेर मारवाड़	१,५८७
आसाम	४२१,३६७
बंगाल	२१३,८८६
बिहार और उड़ीसा	१६४,५६२
बर्मा	४७६,६३७
देहली	१,०६७
मदरास	१६६,४०३
पंजाब	२७०,५०७
बड़ौदा	१०,८५१
हैदराबाद	११५,४३४
राजपूताना	८६,७४१

इसके अतिरिक्त आज भी गाँवोंमें गुड़ और शक्कर बनानेका धन्धा और तेल निकालनेका धन्धा प्रचलित है। यह सब होते हुए भी यह मानना ही पड़ेगा कि इन धन्धोंकी दशा बहुत अच्छी नहीं है। अब प्रश्न यह है कि उन पश्चिमीय देशोंमें जहां यन्त्रोंके द्वारा ही कार्य किया जाता हैं, जहां भीमकाय पुतलीघर चलाये गये और जहां उनकी उन्नति हुई, वहां घरेलू उद्योग-धन्धे क्योंकर पनप सके, और भारतवर्षमें, जहां पुतली-घरोंका अभी श्रीगणेश ही हुआ है, ये धन्धे ऐसी बुरी दशामें क्यों हैं ? बात यह है कि बड़े-बड़े कारखानोंमें भाप अथवा विद्युतसे यंत्र चलाये जाते हैं, जिससे कम खर्चमें बहुत अधिक कार्य होता है, और हमारा देशी कारीगर अपने हाथकी शक्तिसे ही कार्य करता हैं। यही बड़ी भारी अड़चन हाथसे कार्य करनेवाले कारीगरके सामने खड़ी होती है। यूरोपीय देशोंमें ऐसे छोटे-छोटे इंजन बनाये गये हैं, जो बहुत कम मूल्यमें मिल सकते हैं और तेलसे चलाये जा सकते हैं। वे इंजन गांवके लोग ख़रीद लेते हैं और उनकी सहायतासे छोटे-छोटे कारखानोंमें सामान बनाया जाता है।

इसके अतिरिक्त एक बहुत महत्त्वपूर्ण संस्था जो इन धन्धोंको भलीभाँति संगठित करनेमें सफल हुई है, वह है सहकारी समिति। सहकारी समितियोंके द्वारा ये छोटे-छोटे कारखाने बड़े-बड़े कारखानोंकी सब सुविधाएँ अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। डेनमार्क, जो मक्खनके लिए संसार-भरमें प्रसिद्ध है, इन समितियोंके ही कारण इस धन्धेमें सफल हो सका। वहां प्रत्येक गांवमें एक सहकारी समिति है और जितने भी दूधका व्यापार करनेवाले किसान हैं, वे उसके सदस्य हैं। सहकारी समितिका मन्त्री दूध और मक्खनके

धन्धेको जाननेवाला वैतनिक कार्यकर्ता होता है। प्रतिदिन दूध देनेवाले सदस्य मन्त्रीको आकर दूध दे जाते हैं और मन्त्री उनके नाम-रजिस्टरपर दूध कितना आया, लिख लेता है। जब सब दूध आ जाता है, तब मन्त्री यंत्रोंकी सहायतासे मक्खन तैयार करता है, और इंग्लैंड, फ्रान्स, जर्मनी आदि देशोंमें मक्खन भेज दिया जाता है। वर्षके अन्तमें जो कुछ भी लाभ होता है, वह सदस्योंमें दूधके अनुपातके अनुसार बाँट दिया जाता है। यही नहीं कि मन्त्री उनके दूधका मक्खन ही बनाता हो, बल्कि उनकी गायोंका भी निरीक्षण करता है और अपने सदस्योंको वैज्ञानिक ढंगसे गाय पालनेकी तरकीब भी बताता है। यदि सदस्योंकी गाय बीमार हो जाय, तो वह उनकी दवा करता है।

इसी प्रकार स्विट्ज़रलैंडमें घड़ी आदिके कारीगर भी सहयोग समितियोंको पुरज़े बनाकर दे देते हैं, और वहांपर घड़ी बनाई जाती है। फ्रान्सके गांवोंमें सहकारी समितियोंके विशेषज्ञ दर्ज़ी कपड़ा काट देते हैं और गांवोंकी औरतें उनको घरपर सीकर फिर समितिके कार्यालयमें दे जाती हैं। इस प्रकारसे सब गांववाले संगठित रूपमें कच्चे मालको मोल लेते और बनाते हैं। बने मालको बड़े-बड़े बाज़ारोंमें बेचनेका प्रबन्ध भी समिति ही करती है। इस प्रकार छोटे-छोटे कारीगरोंको जो असुविधाएँ हैं, वे संगठनसे अनायास ही दूर हो जाती हैं। लगभग दस वर्षोंसे तो परिस्थिति और भी आश्चर्यजनक होती जा रही है। जल-प्रवाह द्वारा विद्युत उत्पन्न की जाने लगी है। विद्युतशक्तिमें एक बड़ी सुविधा यह है कि तारों द्वारा सैकड़ों मील तक गांवोंमें बिजली पहुँचाई जा सकती है। नार्वे, स्वीडेन, स्विट्ज़रलैंड तथा फ्रान्समें ग्रामीण उद्योग-धन्धे तो जल-प्रवाह द्वारा उत्पन्न विद्युतसे ही चलाये जाते हैं। गांवोंमें जुलाहा अपने करघेको उसी स्वतन्त्रता तथा तेज़ीसे चला सकता है, जैसा कि कारखानेका जुलाहा। फिर इसके साथ ही वह घिरे हुए गन्दे मकानमें न रहकर, कारखानेकी चहारदीवारोंमें बन्द न होकर, स्वतंत्र रूपसे अपने घरमें रहता है और पुतलीघरोंकी प्रतिद्वन्द्विता कर सकता है। हेनरी फोर्डने अपने जीवन-चरितमें इस बातपर बड़ा ज़ोर दिया है। वे कहते हैं कि इन भीमकाय कारखानोंसे जो दोष समाजमें घुस आये हैं, उनको दूर करनेका सबसे अच्छा उपाय यही है।

अब देखना यह है कि क्या भारतवर्षमें भी ग्रामीण उद्योग-धन्धोंको ये सुविधाएँ प्राप्त हैं। सहकारिताका सिद्धान्त तो हमारे गांवोंमें सर्वत्र ही दीख पड़ता है। यद्यपि आज ग्राम-संस्था बाह्य कारणोंसे शिथिल हो गई है, फिर भी सहकारिताका सिद्धान्त वहांके वायुमंडलमें प्रवेष्ठित है। पंचायत, सिचाईके साधनोंको ग्राम-संस्थाके अधीन होना और खेती-बारीमें एक दूसरेकी सहायता करना इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। मेरा तो विचार है कि ये संस्थाएँ जितनी भारतवर्षमें सफल हो सकती हैं, उतनी किसी भी देशमें नहीं हो सकतीं, क्योंकि इनके लिए यहांका वातावरण सर्वथा अनुकूल है। रही शक्तिकी बात, उसके लिए भी देशमें पर्याप्त साधन मौजूद हैं। विशेषज्ञोंने अनुमान किया है कि भारतवर्षमें जो बहुतसा जल नदियों द्वारा पहाड़ोंपर से आता है, उसके द्वारा १ करोड़ ७० लाख घोड़ोंकी ताकतकी विद्युत उत्पन्न की जा सकती है। अभी इस विद्युतका पचासवां भाग भी उत्पन्न नहीं होता। हिमालय, आसाम, बर्मा और पश्चिमीय घाटमें जल-द्वारा बिजली उत्पन्न की जा सकती है, और इस बिजलीको गांवोंमें ले जानेसे वहांके धन्धे पनप सकते हैं। फिर भारतवर्षको इस बातकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी कि बड़े औद्योगिक केन्द्रोंमें कुलियोंको नारकीय जीवनकी यातनाएँ सहनी पड़ें। भारतवर्षको अन्य देशोंके अनुभवका लाभ उठाना चाहिए, और अभीसे अपनी आर्थिक नीतिको स्थिर करके देशकी इस भयंकर निर्धनताको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए। ध्यान रहे, आज दिन संसारमें निर्धन देशका राजनीतिमें भी कोई स्थान नहीं है। राजनैतिक परिवर्तन देशमें चाहे कुछ भी क्यों न हों, पर इस भयंकर समस्याको तो सुलझाना ही पड़ेगा। परन्तु आर्थिक नीति स्थिर करते समय हमें अपनी विशेष अवस्थाका भी ध्यान रखना होगा, नहीं तो सम्भव है, हम दूसरोंकी नक़ल करके स्वयं ही हानि उठावें। क्या देशके विद्वान तथा सरकार इस ओर ध्यान देगी?

पुरीका पारावार

श्री मुन्शी अजमेरी

ओ अपार जलराशि ! सर्वदा उथल-पुथल क्यों होती है ?
ओ उन्मादिनि ! क्या क्षण-भर भी नहीं कभी तू सोती है !
देवि, दूरसे दीख रहा है हिल्लोलित हृदय-स्पन्दन,
साथ-साथ ही सुन पड़ता है कम्पित कण्ठ करुण क्रन्दन !
आती और लौट जाती हैं भग्न भावनाएँ तेरी,
उठती हैं, गिरती हैं, फिर भी, फिर-फिर करती हैं फेरी !
क्षण-भर भी न छिपा रहता है उद्वेलित उरका उच्छ्वास,
अश्रुधार प्रतिपल पड़ती है पैरोंपर—पैरोंके पास !
किसके लिए रुदन यह इतना ? ऐसा विस्तृत व्यथित विलाप !
है तेरा उद्देश्य बता सखि, किस मोहनका मधुर मिलाप ?
कबसे विरहानलमें दहती, सहती है तू विषम वियोग ?
कह, कब बिछुड़ा और कहाँ है तेरा सुखद शान्ति-संयोग ?
अथवा रुदन नहीं, यह तेरा है उल्लसित-उदार-सुहास !
व्यथित विलाप नहीं, अन्तरका मृदुलालाप, प्रणय-आभास।
उरमें प्रबल प्रेम-धाराका आवर्तन-प्रत्यावर्तन,
है निर्मल-निर्बाध हृदयमें नई उमंगोंका नर्तन।
अश्रु नहीं, तारुण्य-तीर पर हैं ये सुन्दर श्रम-सीकर ;
प्रेय प्राप्त कर अमर हुई तू प्यारी, श्रेय-सुधा पीकर।
तेरा हृदय गभीर तथा मन निर्मल, तन लावण्य-भरा,
ओ जललक्ष्मि, जरी-अतलसका है तेरा यह चीर हरा।
पवन-प्रेरणासे, प्रतिपलमें, पल्ले उड़-उड़ पड़ते हैं;
उनसे वहीं हज़ारों मोती हर झोंकेमें झड़ते हैं!
किस कमनीय कलाधरपर तू वार रही इतने मोती ?
दर्शक देख हारते हैं, पर तुझको हार नहीं होती !
कल्लोलिनि, यह कौतुक-क्रीड़ा कबसे भला सीखती है ?
जब देखो, तब छवि छलकाती, इसी प्रकार दीखती है !
क्या जानें, कबसे करती है तू हिल्लोल-भरा यह हास ;
सजनि, हमारे लिए सर्वथा है अगम्य तेरा इतिहास।

नहीं-नहीं, मैं भूल रहा हूँ, 'सजनि' नहीं, तू 'सागर' है !
पारावार ! रम्य रत्नाकर ! नदियोंका नटनागर है !
तुझसे मिलने अहो गुणागर, वे गुणागरीं गिरि-गृह छोड़—
धावित होती हैं धरिणीपर, बाधाओंके बन्धन तोड़ !
उन विह्वला, वेगवतियोंको, तेरे बिना विराम नहीं,
कहीं तनिक टिकने तकको भी धरिणीतलमें धाम नहीं !
जिनके जीवनका बस, तुझसे मिलना ही है अन्तिम लक्ष ;
उनका आलिंगन करनेको बढ़ता है तेरा वर वक्ष।
तरल-तरंगोंके मिससे, तू भुज-भर उन्हें भेटता है ;
एक साथ शत-शत सुन्दरियाँ सरिताएँ समेटता है !
अरे, एक नारी ही नरको कर देती है जब उद्भ्रान्त,
तब इतनी प्रमदाएँ पाकर तू कैसे रह सकता शान्त ?
तू अशान्त, पर अजर-अमर है, अक्षय किया पुण्य अर्जन ;
तेरी परम पूर्णता पर है तेरा क्षम्य गर्व-गर्जन।
पर अब नहीं, आह ! अब तेरा गर्जन-तर्जन है निस्सार ;
क्या तू भूल गया ? तुझपर था भारतकी रक्षाका भार !
हा ! वैदेशिक जलयानोंका वाहन बन, तू हीन हुआ ;
तेरे ही कारण प्रदेश यह पराधीन हो, दीन हुआ !
खोकर निज स्वतन्त्रता तूने, हाय-हाय ! सब हरा दिया !
ओ प्रहरी, कर्तव्य भूलकर, कह, तूने क्या करा दिया ?
इतनेपर भी उसी पुरानी आन-बानपर मरता है !
भोले भारतकी रक्षाका दम-दमपर दम भरता है !
ओ अनन्त, निज मणि-स्वतन्त्रता खोनेसे मरता है सर्प,
पर तू फुंकारें भरता है, फेन उगल करता है दर्प !
क्या कुछ दुःख नहीं होता है तुझको निज दुर्दशा-निमित्त ?
कर्तव्य-च्युत प्रहरीको क्या यही उचित है प्रायश्चित्त !
अरे ! नहीं, मैं फिर भी भूला, तुझे बड़ा दुख होता है ;
प्रायश्चित्त-निमित्त विकल तू नित्य-निरन्तर रोता है।

पश्चात्तापानल दहता है, बनकर बड़वानल दुर्दान्त ;
उर-अन्तर जलता रहनेसे रहता है तू सदा अशान्त।
पराधीनताके पापोंसे तेरा जी घबराता है,
जगन्नाथके चरण चूमने आतुर उमड़ा आता है!
गर्व-गर्जना नहीं, विश्वपतिके चरणोंमें विनती है;
लोल लहरियाँ नहीं, आत्मकृत अपराधोंकी गिनती है।

नहीं फैलते फेन, श्वेत सुमनोंकी कोमल कलियाँ हैं;
अथवा अविरल अश्रुकणोंकी ये उज्वल अंजलियाँ हैं!
ओ असंख्य जीवोंके आश्रय, ओ सरिताओंके सम्राट्,
तू इतना व्याकुल-विपन्न है! कैसा है विचित्र विभ्राट्!
दयासिन्धु जगदीश द्रवित हों, तेरा हार्दिक दुःख हरें;
पुनः स्वतन्त्र भव्य भारतका तुझे स्वतन्त्र समुद्र करें।

'केसरी'की स्वर्ण-जयन्ती

श्री शंकरदेव विद्यालंकार

'केसरी' लोकमान्य तिलकके स्फूर्तिदायक ज्वलन्त विचाररूपी आत्माका शरीर है। 'केसरी' के द्वारा लोकमान्य तिलक हज़ारों महाराष्ट्रीय और मराठी भाषा जाननेवाले पाठकोंके साथ प्रति सप्ताह मिला करते थे, उनके साथ खुली बातचीत करते थे, हृदयके विचार प्रकट करते थे, उनको तेजस्वितापूर्ण शिक्षा देते थे और उनकी राष्ट्रीय भावनाको जाग्रत करते थे। इसीलिए जिस प्रकार व्यावहारिक दुनियामें आत्मा और देहमें भेद नहीं माना जाता है, उसी प्रकार लोकमान्य और 'केसरी'के बीच भी लोग भेद नहीं मानते थे। महाराष्ट्रीय जनता लोकमान्यके जीवनकालमें जितना आदरयुक्त प्रेम-भाव 'केसरी'के लिए रखती थी, आज तिलक महाराजके अवसानके दस वर्ष बाद भी उसके मनमें 'केसरी' के प्रति वैसा ही आदरका भाव है। 'केसरी'के जन्मसे लेकर आज तकके इतिहासको देखते हुए, जनता द्वारा किया गया उसका यह आदर अनुचित भी नहीं प्रतीत होता।

'केसरी' हिन्दुस्तानका सबसे पुराना पत्र नहीं है। भारतवर्षमें सबसे पहला समाचारपत्र कलकत्तेमें सन् १७८० में एक अंगरेज़ सज्जनने प्रकाशित किया था। उसका नाम था 'हिन्दीज़ गजट'। 'केसरी'से ठीक सौ वर्ष पहले यह पत्र प्रकट हुआ था। उसके बाद बहुत वर्षों तक बम्बई, कलकत्ता, मदरास आदि स्थानोंसे अनेक ऐंग्लो-इंडियन पत्र प्रकट हुए और चलते रहे। भारतवर्षमें देशी भाषाका प्रथम समाचारपत्र बंगालमें सन् १८१६ में श्री गंगाधर भट्टाचार्यने प्रकाशित किया था। उसका नाम था 'बंगाल-गज़ट'। इसके दो वर्ष बाद सन् १८१८ में श्रीरामपुरके मिशनरियोंने 'समाचार-दर्पण' नामका एक बंगला समाचारपत्र निकला। इसके कुछ ही वर्ष बाद प्रख्यात समाज-सुधारक नेता श्री राजा राममोहन रायने 'संवाद-कौमुदी' नामका बंगला अखबार सन् १८२१ में प्रकट किया। 'ज़माना बदल गया है, नवयुगका प्रभात उदित हुआ है', यह पुकार भारतमें सर्वप्रथम इसी पत्रने की। इसीकी प्रतिध्वनिके रूपमें सन् १८२२ में बम्बईसे 'मुंबई समाचार' नामक एक गुजराती पत्र निकलना प्रारम्भ हुआ, जो आज भी निकल रहा है। मदरास-प्रान्तमें देशी भाषाके अखबारोंका प्रकाशन कुछ समयके उपरान्त प्रारम्भ हुआ। कदाचित् इसका कारण मदरासी विद्वानोंका अंग्रेज़ी भाषाके प्रति अतिरिक्त पक्षपात भी हो सकता है। मदरासके कुछ तरुण देशभक्तोंने सन् १८७८ में 'हिन्दू' नामका अंग्रेज़ी साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया।

महाराष्ट्रमें सबसे पहला मराठी समाचारपत्र सन् १८३७ में श्री बाल शास्त्री जांभेकर महादेवने प्रकाशित किया। उसका नाम था 'दिग्दर्शन'। इसके बाद सन् १८४६ में 'ज्ञान-प्रकाश' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, जो अभी तक निकल रहा है और मराठी भाषाका एक अच्छा अखबार समझा जाता है। इसके बाद पूना और बम्बईसे कई अखबार निकलने शुरू हुए।

ऊपरके ऐतिहासिक दिग्दर्शनसे यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि समयकी दृष्टिसे 'केसरी' अग्रसर अथवा प्रथम तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु अन्य दृष्टियोंसे उसका अपूर्वत्व मानना ही पड़ेगा।

महाराष्ट्रकी राष्ट्रीय जाग्रतिके जनक लो० तिलकके राजनैतिक गुरु श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकरने अपने साथ लो० तिलक, प्रो० गोपाल गणेश आगरकर, प्रो० वामन शिवराम आपटे तथा प्रो० केलकर आदि तरुण देशभक्तोंको लेकर सन् १८८० में पूना नगरमें 'न्यू इंग्लिश स्कूल' की स्थापना की। इस संस्थाके आजीवन शिक्षकगण इतने अधिक उत्साही और समर्थ कार्यकर्ता थे कि केवल अध्यापनका काम करना उनको काफी प्रतीत न होता था, इसलिए वे अपने कार्यके लिये विस्तृत क्षेत्र ढूँढ़ने लगे। लोकमान्यके गुरु श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर इस संस्थाकी स्थापनाके पहलेसे ही एक अत्यन्त ओजस्वी सुधारक और अभिजात लेखकके रूपमें समस्त महाराष्ट्रमें विख्यात थे। उनकी 'निबन्धमाला' नामकी प्रौढ़ मासिक पत्रिका सारे महाराष्ट्रको अत्यन्त प्रिय थी। फिर भी श्री विष्णु शास्त्री जानते थे कि मासिक पत्रोंमें निकलनेवाले उच्चकोटिके गम्भीर लेख गांवों तक नहीं पहुँच सकते, और साधारणतः शिक्षित लोगोंपर भी वे गहरा प्रभाव नहीं डाल सकते, इसलिए उन्होंने एक ऐसा साप्ताहिक पत्र निकालनेका निश्चय किया, जो लोगोंमें राष्ट्रीय भावनाको जाग्रत करे, उनको उनकी दीनहीन स्थितिका परिचय करावे, उनकी उस स्थितिका कारण बतावे, उस स्थितिको दूर करनेका उपाय समझावे और उन उपायोंको क्रियामें लानेके लिए प्रेरणा दे। श्री विष्णु शास्त्रीकी यह योजना उनके सहकारी शिक्षकोंको बहुत पसन्द आई, और इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १८८१ के जनवरी मासमें एक साप्ताहिक निकालनेका इश्तिहार प्रकाशित किया गया।

महाराष्ट्रमें उस समय जितने अखबार निकलते थे, वे प्रायः सभी ओजरहित थे। उनके अन्दर जनताके मन्तव्यको स्पष्टरूपमें कहा ही नहीं जाता था। प्रायः सभी अखबार डरते हुए अन्तकरणसे सरकारके अन्यायपूर्ण कार्योंपर टीका करते थे। उनमें कुछ तेज न था। उनमें से अधिकतर पत्र तो समाचार देने और साहित्यिक लेख प्रकाशित करनेका ही कार्य करते थे। कुछ तो सदा खुशामदमें ही मशगूल रहते थे। अपने पत्रकी विशेषता बताते हुए श्री विष्णु शास्त्रीने उस समय लिखा था—"आज तक देशकी स्थिति, देशी साहित्य, ब्रिटिश राजनीति आदि विषयोंपर किसी भी पत्रमें चर्चा आदि नहीं हुई है, इस कमीको पूर्ण करनेकी योजना हम लोगोंने की है।

"अपने पत्रमें प्रत्येक विषयका विवेचन निष्पक्षभावसे और जो हमको सत्य प्रतीत होगा, उसीके अनुसार करनेका हमारा दृढ़संकल्प है। सम्प्रति बादशाही (सरकारी) अमलके अन्दर खुशामद करनेकी चाल बहुत बढ़ गई है। यह वृत्ति अत्यन्त अश्लाघ्य और देशहित विघातक है, यह सभी स्वीकार करेंगे। हमारे अखबारमें उसके नामके अनुकूल हों, ऐसे ही लेख प्रकट होंगे।" इश्तिहारमें श्री विष्णु शास्त्रीके साथ लो० तिलक, प्रिन्सिपल आपटे, प्रो० आगरकर आदिके नाम थे। श्री विष्णु शास्त्रीने पत्रका नाम 'विक्रम' रखनेका विचार किया था, परन्तु लोकमान्यने 'केसरी' नाम प्रस्तुत किया। यह नाम सबको पसन्द आया। 'केसरी' नामके उपयुक्त एक मार्मिक श्लोक श्री विष्णु शास्त्रीने जगन्नाथ पंडितराजके काव्यमें से ढूँढ़ निकाला। यही श्लोक पत्रके मुखपृष्ठपर रखा गया। श्लोक यह है—

"स्थितिं नोरे दध्याः क्षणमपि मदान्धे क्षण सखे,
गज श्रेणी नाथ, त्वमिह जटिलायां वन भुवि।
असौ कुंभी भ्रान्त्या खर नखर विद्रावित महा,
गुरु ग्रावग्रामः स्वपिति गिरिगर्भे हरि पतिः॥"

इस साप्ताहिक पत्रका वार्षिक चन्दा केवल एक रुपया दस आना रखा गया। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इसके सारे लेखक बिना एक पाई लिये ही लेख लिखते थे। अंग्रेज़ी पाठकोंके लिए 'केसरी' की ही नीतिपर 'मराठा' नामक साप्ताहिक पत्र उसीके साथ प्रकाशित किया गया।

लगभग एक वर्ष तक पत्रका लेखन-कार्य मुख्यतया श्री विष्णु शास्त्री ही करते रहे। सन् १८८२ में इस तेजस्वी पुरुषका अवसान हो गया, और उसके बाद यह काम लो० तिलक तथा श्री नाम जोशी आदिपर आ गया।

पहले वर्षमें इसके ग्राहकोंकी संख्या अठारह सौ थी। धीरे-धीरे महाराष्ट्रकी जनतापर लोकमान्य तिलक और प्रो० आगरकरकी तेजस्वी लेखनीका प्रभाव पड़ने लगा। सरकार भी चकित होकर इन देशभक्त युवकोंकी ओर देखने लगी। कोल्हापुरके महाराजाके पक्षमें और उसके दीवानके विरुद्ध लेख लिखनेके कारण लो० तिलक और प्रो० आगरकर दोनोंको चार-चार मासकी सज़ा हुई। इससे भी पत्रकी लोकप्रियता बढ़ गई। अब ग्राहकोंकी संख्या अठारह सौसे बढ़कर साढ़े तीन हज़ार हो गई। फिर चार-पाँच वर्ष बाद ग्राहक-संख्या साढ़े चार हज़ार तक पहुँच गई।

इस नवीन पत्र 'केसरी' के तथा अन्य पुराने पत्रोंके लेखोंमें कितना अन्तर था, यह बात नीचेके इस वाक्यसे ही स्पष्ट हो जायगी। "स्वातन्त्र्यरूपी अमूल्य दक्षिणा प्राप्त करनेके लिए, नरमेध-यज्ञके बिना बाक़ी सब लौकिक साधन व्यर्थ है—इस ऐतिहासिक सिद्धान्तका विरोध कौन कर सकता है ?"

सन् १८६१ में श्री आपटे, प्रो० आगरकर, प्रो० केलकर (नरसिंह चिन्तामणि केलकरसे अभिप्राय नहीं है) आदि सब सम्पादक 'केसरी' से पृथक् हो गये और लोकमान्य अकेले ही पत्रके मालिक और सम्पादक बने। उपर्युक्त सब विद्वान राजनैतिक विषयमें एकमत थे, परन्तु सामाजिक सुधारमें उनका तीव्र मतभेद था। लो० तिलकका यह विचार था कि सुधार शनैः शनैः और विचारपूर्वक इस रीतिसे होना चाहिए कि जनता उसे पचा सके। उसके लिए जनतामें पहले ख़ूब चर्चा करनी चाहिए, जनताको शिक्षित और समझदार बनाना चाहिए और धार्मिक तथा सामाजिक सुधारके लिए सरकारकी सहायता कदापि नहीं लेनी चाहिए। श्री आगरकर आदि उग्र सुधारक थे। वे जनतापर सुधारोंके बम फेंककर रूढ़ियोंके दुर्गको सर्वथा नष्ट करना चाहते थे। सुधार दोनों ही पक्ष चाहते थे, परन्तु सुधार करनेकी पद्धतिमें उग्र मतभेद विद्यमान था; इसलिए साथ मिलकर काम करना संभव न हुआ। श्री गोपाल गणेश आगरकर भी एक प्रतिभशाली विद्वान और ओजस्वी लेखक थे। उन्होंने 'सुधारक' नामका एक पृथक् पत्र प्रकाशित करना प्रारंभ किया। सन् १८६१ के बाद 'केसरी' को सव्यसाची बनकर एक साथ दो युद्ध लड़ने पड़े ; एक सरकारके साथ और दूसरा उग्र सुधारकोंके साथ। इन दोनों युद्धोंमें 'केसरी' ने ऐसा अपूर्व पराक्रम दिखाया कि उसके प्रतिपक्षी भी विस्मित होकर थोड़ी देरके लिए उसके पराक्रमकी मुक्तकंठसे प्रशंसा करने लगे।

इन तरुण सम्पादक महोदयको अपना पत्र चलानेके लिए कितने ही नये-नये संकट उठाने पड़े और उनसे उन्होंने कितने ही नये अनुभव प्राप्त किये। पहले-पहल आमदनीकी तो बात ही दूर रही, उलटा कर्ज़ा चढ़ गया। प्रारंभमें तो ऐसे भी प्रसंग आये कि सम्पादन, प्रूफ-संशोधन और अख़बारको फोल्ड करनेका काम भी सम्पादकको ही करना पड़ा था! इतना ही नहीं, कितनी ही बार पूनाके ग्राहकोंको मंगलवारके दिन बहुत सबेरे ही चुपचाप 'केसरी' उनके घर तक पहुँचानेका काम तक सम्पादक महोदयको ही करना पड़ता था। आगे चलकर 'केसरी' के अपनी सुस्थितिपर पहुँच जानेपर लोकमान्य अनेक युवकोंसे कहा करते थे—'अरे भाई, मेरे ये कन्धे तो प्रेसका सामान उठाकर दूसरे स्थानपर ले जाते हुए ढीले पड़ गये हैं और तुमको इतना काम करते हुए भी शर्म आती है!"

इन कठिनायोंके होते हुए भी सम्पादक महाशयके बिछे हुए बिस्तर-रूपी टेबिलपर से ऐसे स्फूर्तिमय और चैतन्यपूर्ण लेख प्रत्येक सप्ताह प्रकट होते थे कि उनकी प्रचण्ड गर्जनासे

गुलामीकी घोर निद्रामें पड़ा हुआ समस्त महाराष्ट्र जाग उठा। महाराष्ट्रसे बाहर भी 'केसरी' के पराक्रमकी प्रतिध्वनि सुनाई देने लगी।

स्वातन्त्र्य वृत्तिवाले, निर्भय, तेजस्वी, प्रखर विद्वान और वीरवृत्तिवाले इस सम्पादकपर आखिर सरकारकी कृपादृष्टि हुई! सरकारने एकके बाद एक दण्ड-रूपी पारितोषिक उनपर बरसाने शुरू किये। जैसे-जैसे सजा-रूपी इनाम मिलता गया, त्यों-त्यों पत्रकी ध्वनि (Tone) अधिकाधिक तीव्र होती गई। 'केसरी' अधिक स्पष्टताके साथ अपना ध्येय बताने लगा—"लोगोंमें जाग्रति, संघशक्ति और उत्साह उत्पन्न करना यही पत्रकारकी दृष्टिसे हमारा मुख्य कर्तव्य है, ऐसा हम मानते हैं। हम लोग जो लेख लिखते हैं, वे राजकर्ताके लिए नहीं लिखते, परन्तु अपने मनके सब विचार, सारी उत्साह-शक्ति और संपूर्ण आग पाठकोंके मनमें उतरे, इसी हेतुसे लिखते हैं। यदि हमारा निर्धारित किया हुआ परिणाम नहीं हुआ, तो हम समझेंगे कि हमारा परिश्रम व्यर्थ गया।

'किं कवे स्तस्य काव्येन,
किं काण्डेन धनुष्मत:।
परस्य हृदये लग्नम्
न घूर्णयति यच्छिर:॥'*

यह संस्कृतका वचन समाचारपत्रोंके लिए भी लागू होता है।"

देखते ही देखते 'केसरी' राजनीतिक और सामाजिक काम करनेवाला एक विशाल संस्था बन गया। लोकमान्यके पास प्रो॰ परांजपे, श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर, श्री कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर, श्री जनार्दन सखाराम करन्दीकर, श्री दामोदर विश्वनाथ गोखले प्रभृति अनेक योग्य कार्यकर्ता और लेखक एकत्र हो गये। उनमें से श्री केलकर सम्प्रति 'केसरी' के व्यवस्थापक हैं और श्री करन्दीकर इस समय उसके प्रधान सम्पादक हैं। श्री गोखले बहुत समय तक 'मराठा' के सम्पादक रह चुके हैं। श्री कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर आजकल बम्बईमें रहते हैं और मराठी भाषाके सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र 'नवाकाल' के प्रधान व्यवस्थापक और सम्पादक हैं। 'नवाकाल' मराठी भाषाका सर्वश्रेष्ठ दैनिक पत्र कहा जा सकता है।

उन दिनों 'केसरी' इतना लोकप्रिय हो गया था कि प्रत्येक ज़िलेमें तथा प्रत्येक प्रान्तमें 'केसरी' पन्थ अथवा नूतन राष्ट्रीय पन्थके केन्द्र स्थापित हो गये। पूनाके 'केसरी' कार्यालयके केन्द्रसे ही मदरास, बंगाल और पंजाब जैसे दूरस्थ प्रान्तोंके आन्दोलन-सूत्र भी हिलने लगे। स्वर्गीय मोतीलाल घोषकी 'अमृत बाज़ार पत्रिका', अरविन्द बाबूका 'बन्देमातरम्', पंजाब और मदरासके 'हिन्दू' आदि अखबार भी 'केसरी' की नीतिपर ही निकलते थे। उनमें 'अमृत बाज़ार पत्रिका'को तो 'केसरी' अपना गुरु और मित्र समझता था। श्री शिशिरकुमार घोष (श्री मोतीलाल घोषके ज्येष्ठ भ्राता) ने 'अमृत बाज़ार पत्रिका' को जिस परिस्थितिमें प्रकाशित किया था, उसमें तथा 'केसरी' की परिस्थितिमें विलक्षण साम्य है। 'अमृत बाज़ार पत्रिका' 'केसरी' की अपेक्षा तेरह वर्ष बड़ी है। पहले 'पत्रिका' बंगलामें निकलती थी, परन्तु देशी भाषाके पत्रोंके उग्र क़ायदे-क़ानूनके पंजेमें से छूटनेके लिए श्री शिशिर बाबूने एक ही रात्रिमें उसको अंग्रेज़ी पत्रके रूपमें परिवर्तित कर दिया था।

शिशिर बाबूकी लिखनेकी रीति लगभग लोकमान्य जैसी ही थी, उनके विचार भी लोकमान्यके विचारोंकी तरह तेजस्वी थे। दोनों ही मित्र और उच्चकोटिके राष्ट्रभक्त थे। शिशिर बाबूके बाद उनके छोटे भ्राता मोतीलाल घोषने भी लोकमान्य और 'केसरी' के साथ मित्रभाव बनाये रखा। पत्रकारके रूपमें लोकमान्यने शिशिर बाबूसे बहुत-कुछ प्रेरणा प्राप्त की थी।

इस प्रकार लगातार चालीस वर्ष तक 'केसरी' ने लोकमान्यका दिव्य सन्देश राष्ट्रको पहुंचानेका अमूल्य कार्य किया। लोकमान्यके समयमें ही 'केसरी' की पद्धतिके

* अर्थ—उस कविकी कविता, उस धनुर्धारीका बाण किस कामका जो दूसरेके हृदयमें लगने पर उसका सिर हिला नहीं देता।

अनुसार एक रस होकर काम कर सकें, ऐसे अनेक नये लेखक तैयार हो गये थे। जब लोकमान्य बन्दीगृहमें थे, उस समय तथा उनकी अनुपस्थितिमें ये लोग 'केसरी' का संचालन करते थे। लोकमान्यके अवसानके उपरान्त भी इन लेखकोंने लोकमान्यकी विचारशैलीको क़ायम रखकर लोक-शिक्षणका काम जारी रखा है। 'केसरी' किसी व्यक्तिविशेषका न रहकर अब समस्त महाराष्ट्रका पत्र बन चुका है। सारा महाराष्ट्र उसकी ओर ममत्वकी दृष्टिसे देखता है। राजनीतिक विषयमें यदि किसी सम्पादकका मत महाराष्ट्रीय मतसे जुदा हो, तो उस सम्पादकका पत्रमें रहना कठिन है। अब तो यह पत्र महाराष्ट्रीय भावनाका माप-यन्त्र (Barometer) बन गया है। इसका एक उदाहरण लीजिए। असहयोग-आन्दोलनके समय 'केसरी' के सम्पादक श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर महोदय थे। वे असहयोगके पक्षमें न थे। उन्होंने अपने विचार 'केसरी' में प्रकट किये। तुरन्त ही महाराष्ट्रमें बड़ा क्षोभ फैल गया। इस लोक-क्षोभका परिणाम यहाँ तक हुआ कि श्री केलकरको अपने पदसे हटाये जानेकी चर्चा होने लगी। उस समय लोकमान्यके दौहित्र श्रीयुत केतकरने 'केसरी' का सम्पादन-कार्य अपने ऊपर ले लिया। केतकरजीके आते ही 'केसरी' द्वारा असहयोगका उपदेश होने लगा और केतकरजीने सत्याग्रह-आन्दोलनमें जेलमें जाकर महाराष्ट्रकी आशाओंको फलीभूत किया।

ऐसे तेजस्वी मराठी पत्रके स्वर्ण-महोत्सवके प्रसंगपर प्रत्येक मराठी पाठकको आनन्द प्राप्त होना स्वाभाविक है। लोकमान्यकी अमूल्य सेवाओंका ऋण महाराष्ट्र कैसे अदा कर सकता है? फिर भी महाराष्ट्रने 'केसरी'का कुछ कम सत्कार नहीं किया है। लोकमान्यके जीवनकालमें 'केसरी' की ग्राहक-संख्या चालीस हज़ार तक पहुँची थी और वर्तमान समयमें भी उसके ग्राहक लगभग तीस हज़ार हैं। देशी भाषाओंमें समाचारपत्रोंकी ऐसी सफलता और तेजस्विता शायद ही कहीं नज़र आयगी। सम्प्रति 'केसरी' एक विशाल संस्था बन चुका है। जेल-यात्राकी कसौटीपर चढ़ावें, तो उसपर भी 'केसरी' का सम्पादक-मंडल सफलताके साथ खरा उतरता है। इस समय 'केसरी' के पास लाखों रुपयेकी द्रव्यनिधि विद्यमान है। राजनीतिक आन्दोलनको दृढ़ आधारपर अपनी ओरसे चलानेकी भी उसमें सामर्थ्य है। पत्रकी विविधता भी मनोरम है। महाराष्ट्रमें 'केसरी' की तरह सर्वांगीन चर्चा करनेवाला दूसरा पत्र नहीं है। अन्य प्रान्तोंके देशी पत्रोंमें भी ऐसे पत्र थोड़े ही होंगे। 'केसरी' में हमको सब कुछ मिलता है। उसकी भाषा उच्चकोटिकी, सुसंस्कृत, ओजस्वी और अप्रतिभ है। ईश्वर करे, महाराष्ट्रकी गिरि-कन्दराओंमें रहनेवाले इस 'केसरी' का जीवन सदा तेजस्वी बना रहे, और अपनी गर्जनासे यह राष्ट्र और महाराष्ट्रको जाग्रत बनाये रखे।
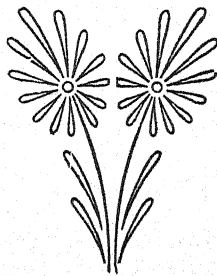
नवीन इटली और विशाल भारत

डा० तारकनाथ दास, पी-एच० डी०

जो कोई भी पाश्चात्य देशोंकी सभ्यता और संस्कृतिका अध्ययन करना चाहता हो, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह उस सभ्यतामें ग्रीस और इटलीके प्रदत्त अंशपर विचार करे। अनेक बातोंमें यूरोपियन सभ्यताके विकासमें इटलीने बड़ा भारी भाग लिया है। मुझे इटली प्रिय है, और जब कभी अवसर मिलता है, मैं रोम जाकर पाश्चात्य सभ्यताके विकासके वातावरणमें विचरण करता हूँ। रोमके चारों ओर फैले हुए भग्नावशेषों तथा स्मारकोंसे आप इटेलियन इतिहासकी सम्पूर्ण दृश्यावलीको—रोमका प्रजातन्त्र, मेसिडोनियाकी लड़ाइयाँ, कार्थेजका नाश, रोमन सम्राटोंका युग, ईसाई धर्मका प्रभाव, यूरोपका अन्धकार-युग और पुनरुत्थान, इटलीमें विदेशियोंका दौरदौरा, राष्ट्रीय एकता तथा स्वतन्त्रताके लिए इटलीका संघर्ष और वर्तमान फैसिस्टोंकी अधीनतामें इटलीके सम्पूर्ण घटनापटको—देख सकते हैं। इतिहासके विद्यार्थीको रोममें यह बात भलीभाँति स्पष्टरूपसे मालूम हो सकती है कि किसी राष्ट्रका विकास, उसका भूत, वर्तमान और भावी सम्भवनाएं कैसी होती हैं। यहाँ आकर आपको इस बातका पूरा परिचय मिल सकता है कि ईसाई धर्मने पाश्चात्य सभ्यताके विकासमें क्या-क्या प्रदान किया है। साथ ही यह भी मालूम हो जाता है कि कैथोलिक ईसाई धर्म कितना असहिष्णु और निष्ठुर है, उसने एक संसारव्यापी संगठनके द्वारा कितनी बड़ी शक्ति एकत्रित कर ली है तथा उसका यह संगठन संसारकी समस्त राजशक्तियोंसे कितना बड़ा, सुविस्तृत और दृढ़ है।

मुसोलिनीके नेतृत्वमें नवीन इटलीकी राष्ट्रीय चेतनाका अन्तस्तल तक जाग्रत हो उठा है। उसे यह अनुभव होने लगा है कि संसारमें उसे एक उच्च सभ्यताके प्रचारका 'मिशन' पूरा करना है। उसमें, प्राचीन साम्राज्यवादी, वैभवशाली रोमके समान पुनः एक महान शक्ति बननेकी धुन समाई जान पड़ती है।

नवीन इटलीकी आकांक्षाएँ केवल उसके राष्ट्रीय अस्तित्व तक ही परिमित नहीं हैं, उनका क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय है; परन्तु आधुनिक इटलीके नेतागण यह भलीभाँति समझते हैं कि सांसारिक मामलोंमें अपनी बातको प्रभावशाली बनानेके लिए राष्ट्रीय महानता एक आवश्यक चीज़ है। एक 'नैतिक राज्य' के अधिकार द्वारा तथा राष्ट्रीय सहयोग और दृढ़ताके सहारे इटलीको महान बनना पड़ेगा। उसे मानव-जीवनके प्रत्येक अंशमें अपनी दक्षता बढ़ानी पड़ेगी। प्रत्येक इटेलियन नागरिकको सबसे पहले अपने आत्म-विकासके प्रति और देश तथा राष्ट्रकी भलाईके प्रति अपने कर्तव्यपर ध्यान देना चाहिए, और उनमें आदर्श प्राप्त करनेके लिए उसे अधिकसे अधिक प्रयत्न करना चाहिए। राष्ट्रकी विभिन्न श्रेणियोंमें संघर्षके स्थानपर सामंजस्य स्थापित होना चाहिए। आजकल जो जनसत्तावाद कहलाता है, उसके स्थानमें विद्या-बुद्धिके धनियों तथा उन स्वार्थत्यागी नेताओंका शासन स्थापित होना चाहिए, जिन्होंने सेवाके आदर्शके लिए अपने जीवन दे डाले हैं। प्रत्येक व्यक्तिको संयम और सेवाका जीवन बिताना चाहिए। फैसिस्टोंके शासन और जीवनके सिद्धान्तोंकी यही विशिष्टताएँ हैं। कुछ पक्षपातपूर्ण एवं उथले निरीक्षकोंने 'फैसिस्ट-अत्याचारों' की बातें कही हैं और फैसिस्ट-शासनको बदनाम किया है, परन्तु मुझे यह प्रत्यक्ष जान पड़ता है कि यद्यपि फैसिस्ट-सरकारने अथवा उसके किन्हीं विशेष अधिकारियोंने किसी विशेष अवसरपर गलतियाँ की होंगी, मगर फैसिज़्मके सिद्धान्त स्वतन्त्र और उत्तरदायित्व-पूर्ण हैं और वे सब प्रकारकी अनुत्तरदायी स्वच्छन्दताके विरुद्ध हैं। वे अन्य बातोंकी अपेक्षा कर्तव्य और शक्तिको
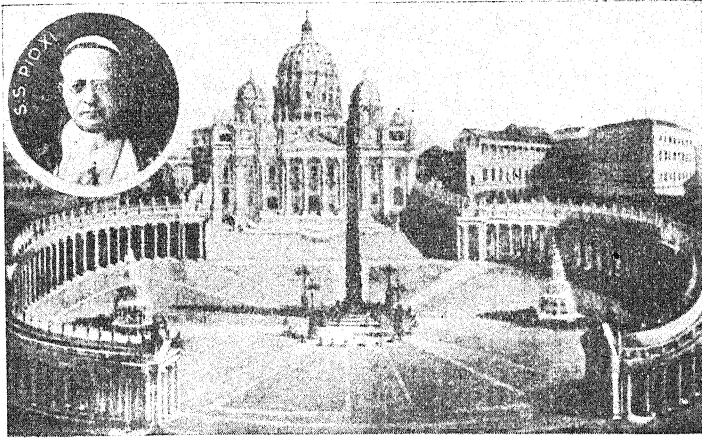
रोमका सेन्टपीटर गिरजा। ऊपर कोनेमें वर्तमान पोपका चित्र

सेना और हवाई-बेड़ा बहुत शक्तिशाली है। कुछ ही मास पहले इटलीके युद्ध मंत्री हिज़ एक्सलेन्सी सिगनर इटालो बालबोके नेतृत्वमें इटेलियन उड़ाकोंके एक दलने एक दर्जन हवाई-जहाज़ोंके साथ सैनिक ढंगसे इटलीसे दक्षिण-अमेरिकाकी बड़ी आश्चर्यजनक यात्रा की थी। हवाई-जहाज़ोंके सम्बन्धमें इटलीने अगुआका स्थान ग्रहण कर रखा है। हालके कुछ वर्षोंमें इटेलियन विद्वानोंने कला और विज्ञानकी सभी शाखाओंमें बड़ी मूल्यवान

अधिक महत्त्व देते हैं, जैसा कि आपको भगवद्गीताकी शिक्षामें मिलता है।

संसारकी घटनाओंका अध्ययन करनेवालोंको अतर्राष्ट्रीय राजनीतिमें इटलीके कार्य प्रत्यक्ष ही प्रकट हैं। आजकल संसारकी कोई भी महत्वपूर्ण समस्या बिना इटलीके सहयोगके हल नहीं हो सकती। इसका सबसे नवीन उदाहरण यह है कि हालमें संसारकी विभिन्न शक्तियोंकी जलसेनाके नियन्त्रणका समझौता करनेके लिए ब्रिटिश परराष्ट्रसचिव मि० आर्थर हेंडरसन सिगनर मुसोलिनीसे सलाह करनेके लिए रोम गये थे। कुछ वर्ष पूर्व ग्रेट ब्रिटेनने इटलीसे सद्भाव बनाये रखनेके लिए अपने अफ्रिकाके कुछ भूभाग उसके लिये छोड़ दिये थे। आजकल इटलीने अपना प्रभाव फारस, टर्की, ग्रीस, रूमानियां, बलगेरिया, हंगरी और सोवियेटरूस तकमें बढ़ाया है। यूरोपियन महासमरके समय इटलीकी व्यापारिक जलशक्ति (Mercantile Marine) कुछ नहींके बराबर थी; मगर आज संसारमें उसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इटलीकी

वस्तुएँ भेंट की हैं। बेतारके तार तथा रेडियोके प्रसिद्ध आविष्कारक हिज़ एक्सलेन्सी सेनेटर मारकोनीकी अध्यक्षतामें नवीन रायल एकेडेमीके द्वारा इटली अपनी सांस्कृतिक चेतनाकी पुनः प्रतिष्ठा कर रहा है। भारतीय सभ्यता और संस्कृतिके विद्यार्थियोंको यह जानकर बहुत दिलचस्पी होगी कि हिज़ एक्सलेन्सी प्रो० फारमीसी, रोमके हिज़ एक्सलेन्सी प्रो० टुकची, फ्लोरेंसके हिज़ एक्सलेन्सी प्रो० पेवोलिनी तथा अन्यान्य इटेलियन विद्वान
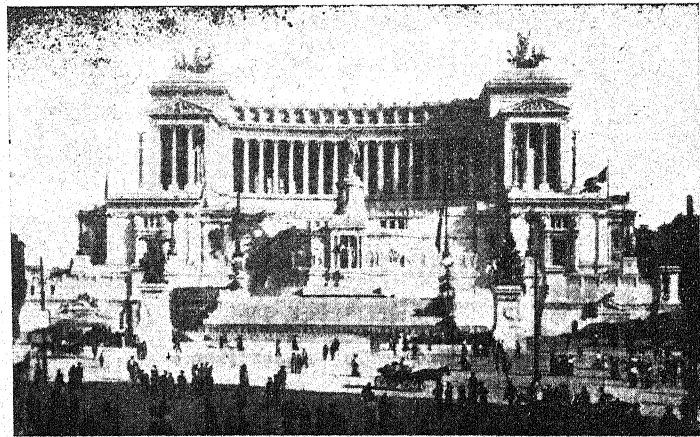
विक्टर एमान्युएल-स्मारक। यह स्मारक राजा विक्टर एमान्युएलकी, जो इटलीके एक उद्धारकर्ता थे, यादगारमें बनाया गया था
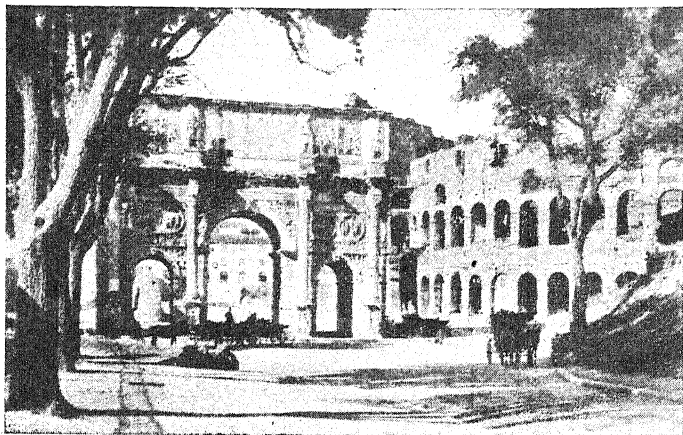
रोमके भग्नावशेष। कान्स्टैन्टाइनका तोरण और कलीसियम

शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। भारतकी अतिरिक्त जनसंख्या कहाँ समायगी, उसके लिए स्थान कहां है? संसारके विभिन्न भागोंमें, खासकर अफ्रिका और आस्ट्रेलियामें भारतीयोंके बसनेमें जो रुकावटें हैं, उन्हें दूर करनेके लिए भारत क्यों नहीं अगुआ बनता?

यद्यपि नवीन इटलीके नेता संसारकी शक्तियोंमें इटलीकी गणना किये जानेके लिए चिन्तित हैं, मगर वे शिक्षाके द्वारा अपनी राष्ट्रीय योग्यता बढ़ानेके लिए कहीं अधिक चिन्तित हैं। इटलीके फैसिस्ट-शासनकी शिक्षा-नीतिसे कुछ सबक़ सीखना भारतीयोंके लिए बड़ा लाभदायक होगा। इटलीकी शिक्षा-नीतिसे होनहार इटेलियन नवयुवकोंको अच्छेसे अच्छे भारतीय सभ्यताके सम्बन्धमें, जिसने संसारकी संस्कृतिको इतना समृद्धिशाली बनाया है, खोज कर रहे हैं। कृषि-सम्बन्धी बातें जाननेके लिए समस्त संसार रोमकी 'अन्तर्राष्ट्रीय कृषि-समिति' की ओर टकटकी लगाये रहता है। भारतीय विद्यार्थियोंको यह मालूम होना चाहिए कि पुरातत्त्व, भूगोल, समाजशास्त्र आदिमें इटेलियन विद्वान बहुत ही अग्रद्रष्टा हैं। इस बातका प्रत्येक प्रमाण दिखाई देता है कि रोम अपना प्राचीन स्थान—संसारका सबसे महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र होनेका पद—पुनः ग्रहण कर रहा है।

एक बातपर मैं विशेष ज़ोर देना चाहता हूँ कि सिगनर मुसोलिनीके समान फैसिस्ट नेताओंके लिए राजनैतिक और आर्थिक शक्ति प्राप्त करना अपने उद्देश्यकी पूर्तिका केवल साधनमात्र है, और वह उद्देश्य है राष्ट्रीय महानता। अवश्य ही राष्ट्रीय विस्तारके सम्बन्धमें फैसिस्ट इटलीका रुख साम्राज्यवादी है, क्योंकि इटलीकी आबादी बहुत अधिक है और उसे अपनी बढ़ती हुई आबादीके लिए नवीन स्थानकी ज़रूरत है। इस विषयमें भारतीय राजनीतिज्ञोंको इटैलियन राजनीतिज्ञोंसे—जो बराबर अफ्रिका तथा इटलीके आसपासकी भूमिपर अधिकार बढ़ाते जाते हैं—

डा० मेरिया मांटिसोरी

श्रीमती ग़ौसिया जमालुद्दीन

श्रीमती कमला बक़ाया

ढगकी वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करनेका खास मौक़ा मिलता है। साथ ही उससे बच्चोंको कर्तव्यपालनकी शिक्षाके द्वारा स्वतन्त्रताका आदर्श प्राप्त करनेकी अच्छीसे अच्छी ट्रेनिंग मिलती है। इसके लिए सिगनर मुसोलिनीने स्वयं व्यक्तिगत रूपसे अगुआ बनकर इटलीमें बच्चोंकी शिक्षाके लिए मांटेसोरी-शिक्षा-पद्धति प्रचलित की है। बच्चोंकी शिक्षाका महत्त्व किसी प्रकार भी कम नहीं कहा जा सकता। पेस्टालोज़्ज़ी फ्रोबेल, हर्बट तथा अन्य विद्वान इस बातको स्वीकार कर चुके हैं; मगर इन सबसे बढ़ कर हैं रोमकी रायल यूनिवर्सिटीकी मैडम मेरिया मांटेसोरी एम० डी०। उन्होंने बच्चोंकी शिक्षाके क्षेत्रमें बड़ी महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान की है। उनकी पुस्तकें, विशेषकर उनकी Pedagogical Anthropology शिक्षकोंके लिए एक अपरिहार्य वस्तु है। वे निस्सन्देह हमारे समयके बच्चोंकी सबसे महान शिक्षिका हैं। इस महान शिक्षिकाका कार्य मानव-जातिकी उन्नति और स्वतन्त्रतामें इटलीके सबसे बड़े दान-स्वरूप हो, इस बातके लिए इटलीकी —फैसिस्टोंकी—सरकार भरपूर चेष्टा कर रही है। फैसिस्ट-सरकारके शिक्षा-प्रोग्रामसे न केवल सर्वसाधारणमें ही शिक्षाका प्रचार होता है, बल्कि उससे सहस्रों दक्ष शिक्षक भी तैयार किये जाते हैं। मुझे तथा मेरी स्त्रीको फैसिस्ट-सरकारके इस शिक्षा-प्रोग्रामसे अनुराग रहा है, इसलिए मुझे मैडम मांटेसोरीसे मिलनेका विशेष अवसर मिला है। मांटेसोरी-शिक्षा-पद्धतिकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिए इक्कीस देशोंसे आये हुए शिक्षक-शिक्षिकाओंको मैडम मांटेसोरीने जो व्याख्यान दिये थे, उनमें से कुछमें सम्मिलित होनेका मुझे भी अवसर मिला था। हमने रोमके वाया मांटज़ेबोमें स्थित ओपेरा मांटेसोरीकी वृहत् प्रयोगात्मक संस्थाको भी देखा है, जहाँ तीनसे लेकर छै वर्ष तकके बच्चोंको स्वतन्त्रता-पूर्वक शिक्षा दी जाती है। वहाँका दृश्य बड़ा प्रेरणाजनक था। एक दिन स्कूलका निरीक्षण करते समय मुझे इटेलियन चेम्बर आफ् डिपुटीज़के उप-सभापति और मांटेसोरी-सोसाइटीके अध्यक्ष माननीय इमीलो बोदीरोसे मिलनेका भी अवसर मिला था। वे भारत और इटलीके बीच सांस्कृतिक सहयोग स्थापित करनेमें दिलचस्पी रखते हैं।

मैडम मांटेसोरीसे हमारी जो बातचीत हुई, वह बड़ी

श्रीमती रूपकुमारी शिवपुरी

श्रीमती जमना परमानन्द

आत्मप्रेरणापूर्ण थी। उनकी विनम्रता और भारतके सांस्कृतिक कार्योंके प्रति उनकी सहानुभूतिने तो टानिकका काम किया। हम लोगोंने भारतके राष्ट्रीय जीवनमें भारतीय महिलाओंके भागके महत्वपर बातचीत की, और यह कहा कि यदि मैडम मांटेसोरी भारतकी यात्रा करें, तो उससे भारतकी स्त्रियाँ और बच्चोंकी शिक्षामें बड़ी सहायता पहुँचे। इसपर उन्होंने अपनी स्वाभाविक विनम्रतासे कहा—'मेरी इच्छा है कि मैं इस विषयमें भारतकी कुछ सेवा करूँ, और मैं आशा करती हूँ कि अधिक समय बीतनेके पहले ही मैं भारत-यात्रा करूँगी।' जब हम लोग भारत और इटलीमें सांस्कृतिक सहयोग-स्थापनकी बातचीत कर रहे थे, तब मैडम मांटेसोरीने बड़े सन्तोषसे मुझे बताया कि उनकी शिक्षा-पद्धति सीखनेवाले विद्यार्थियोंमें चार भारतीय महिलाएँ भी हैं। इस खबरसे हम लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। हम क्लासमें जाकर अपनी इन भारतीय बहनोंसे मिले।

मुझे अपने छब्बीस वर्षके दीर्घ प्रवासमें कभी इतनी अधिक प्रसन्नता नहीं हुई, जितनी भारतीय स्वतन्त्रता और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगके मार्गको प्रकाशित करनेवाली इन भारतीय बहनोंको देखकर हुई। उनमें सुसंस्कृति, आदर्शवाद, उच्चकोटिकी निर्माणात्मक देशभक्ति, दृढ़संकल्प और विनम्रता है। वे भारतीय महिलाओंमें जो कुछ सर्वोत्तम है, उसकी प्रतिनिधि हैं। वे सब विवाहिता महिलाएँ हैं, जो अपने पतियों और बच्चोंको सुदूर भारतवर्षमें छोड़, समुद्र पार करके यहाँ ज्ञान प्राप्तिके लिए—जो भारतवर्षके लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा—आई हैं। अपने रोमके प्रवासमें मैं और मेरी स्त्री कई अवसरोंपर इन भारतीय बहनोंसे मिले। मैं इन बहनोंका कुछ हाल और उनकी महत्वाकांक्षाकी बातें भारतीय जनताके सामने रखना चाहता हूँ, जिससे हमारी अन्यान्य भारतीय बहनोंको प्रेरणा मिले और जिससे हमारे भारतीय भाई इन महिला विद्यार्थिनोंके पति और माता-पिताके उदाहरणका अनुसरण कर सकें।

सबसे पहले मैं अपनी हैदराबादकी मुसलमान बहन श्रीमती गौसिया जमालुद्दीनके सम्बन्धमें कुछ कहूँगा। मैं थोड़ेसे शब्दोंमें स्वयं उनके मुँहसे कही हुई बात कह देता हूँ—"मेरी माता हैदराबाद दक्षिणके गवर्मेन्ट स्कूलमें अरबी पढ़ाती थीं, इसलिए मेरी शिक्षा तीन वर्षकी छोटी आयु ही में आरम्भ हो गई थी। मैंने चौदह वर्षकी आयुमें मैट्रिकुलेशन पास किया; मगर हैदराबादमें कोई ज़नाना-कालेज न होनेके

वीयनाके मांटेसोरी स्कूलकी एक लड़की लिखना सीख रही है

सरकारने मुझे उच्च शिक्षाके लिए एक यूरोपियन छात्रवृत्ति देना स्वीकार किया। मैंने लन्दनमें फ्रोबेल किंडरगार्टनका कोर्स एक वर्ष तक अध्ययन किया। इस वर्ष मैं मांटेसोरी-प्रणालीका अध्ययन करनेके लिए रोम आई हूँ। अपने कालेज-जीवनमें मुझे साधारण योग्यता तथा अंग्रेज़ी, अरबी और धर्ममें विशेष दक्षताके लिए कई स्वर्ण-पदक मिले थे। मैं अपनी ज्ञान-तृष्णाके लिए अपनी माताकी ऋणी हूँ। मैं निज़ाम-सरकार और खासकर सर अकबर हैदरीकी—जिन्होंने रियासतमें शिक्षा-सम्बन्धी अनेक उन्नतिकारी विधान चलानेमें इतनी कोशिश की है—विशेष कृतज्ञ हूँ। मैं अपने बच्चोंको देशमें छोड़ आई हूँ, इसलिए देश लौटनेकी मेरी बड़ी इच्छा है; परन्तु साथ ही अपनी

कारण मुझे अपनी पढ़ाई जारी रखनेकी इच्छाको दबाना पड़ा। सन् १६२५ में सरकारने निश्चय किया कि यदि सात छात्राएँ मिल सकें, तो वह एक ज़नाना-कालेज खोलेगी। मैंने अन्य छै छात्राओंके साथ मिलकर यह संख्या पूरी कर दी और कालेजमें भर्ती हो गई। यद्यपि यह काम बड़ा मुश्किल था, क्योंकि मुझे स्कूल छोड़े सोलह वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इस बीचमें मेरा विवाह हो गया था और मेरे छै बच्चे भी थे। परन्तु एफ० ए० की प्रथम वार्षिक परीक्षामें सफलता मिलनेसे मुझे बहुत प्रोत्साहन मिला, और मैंने इंटरमीडियेट पास कर लिया। मैं जूनियर बी० ए० की परीक्षामें भी पास हो गई; मगर दुर्भाग्यसे बी० ए० की परीक्षाके तीन दिन पहले मैं बीमार पड़ गई और बी० ए० के फाइनल इम्तहानमें शामिल न हो सकी। मैं दूसरे वर्ष बी० ए० पास करना चाहती थी; मगर निज़ाम-

भारतीय बहनों और खासकर अपनी मुसलमान बहनोंकी जाग्रतिके लिए मुझे अपना कर्तव्य भी पूरा करना है।"

बाक़ी तीन हिन्दू महिलाओंमें दो, श्रीमती कमला बक़ाया और श्रीमती रूपकुमारी शिवपुरी सगी बहनें हैं। वे जातिकी काश्मीरी ब्राह्मण हैं और संयुक्तप्रदेशकी रहनेवाली हैं। उनके पिता एक सरकारी नौकर हैं और उन्होंने घरपर ही शिक्षा पाई थी; मगर मुझे यह कहना पड़ेगा कि अनेकों स्कूल-कालेजोंमें शिक्षा पानेवालोंसे उनकी घरकी शिक्षा कहीं अधिक अच्छी हुई है। श्रीमती शिवपुरीके पति इलाहाबादमें ऐडवोकेट हैं और अभी तक उनके कोई सन्तान नहीं है। वे संयुक्तप्रान्तमें स्त्री-शिक्षा-प्रचारका काम करती थीं, और प्रयागमें थियासोफिकल सोसाइटी द्वारा खोले हुए एक स्कूलमें पढ़ाती थीं। वे यहाँसे देश लौटकर अध्यापनका कार्य जारी रखेंगी, और भारतमें मांटेसोरी-प्रणालीका प्रचार करेंगी।
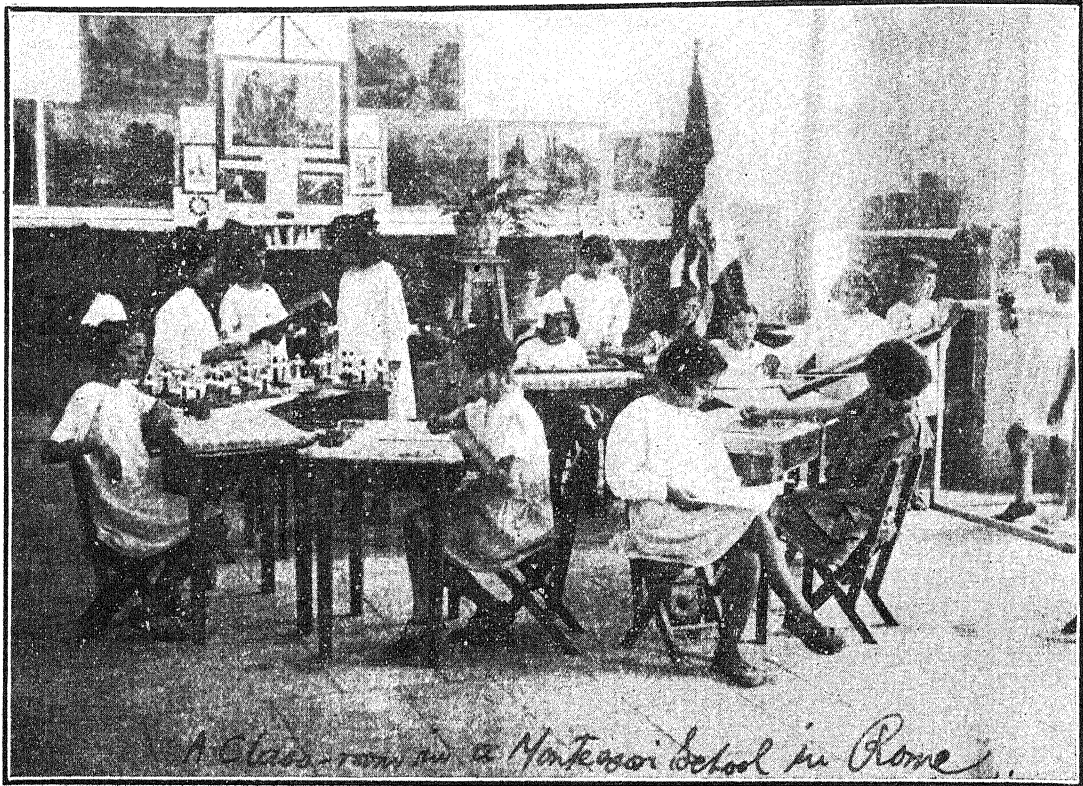
रोमके मांटेसोरी स्कूलका एक क्लास-रूम

श्रीमती शिवपुरी बहुत ही कार्यकुशल और अपना उद्देश्य पूरा करनेके लिए दृढ़संकल्प दिखाई दीं। श्रीमती बक़ायाने मुझपर एक अव्यक्त प्रभाव डाला, जिससे मालूम हुआ कि उनका व्यक्तित्व बहुत खरा और आदर्शवाद तथा भावुकतासे भरा है। वे कुछ विचलित-सी दिखाई देती थीं। वे पाँच बच्चोंकी माता हैं, जिन्हें वे भारतमें छोड़ आई हैं, अत: वे उनके लिए चिन्तित मालूम होती थीं।

जब मेरी स्त्रीने कहा—"आपको शिक्षाका यह अवसर प्राप्त करनेके लिए बड़ा त्याग करना पड़ा।" तब श्रीमती बक़ायाने उसके उत्तरमें कहा—"मगर मेरे पतिका त्याग कहीं अधिक महान है। ज़रा सोचिये तो कि वे स्वयं बच्चोंकी देखरेख करते हैं और उन्होंने मुझे इस अवसरसे लाभ उठानेकी अनुमति दी, वह भी उस दशामें, जब वे अपने प्रयोगात्मक कृषि-फार्ममें कड़ी मेहनत करते हैं। देश लौटकर मैं किसी शहरमें पढ़ानेका काम करना चाहती हूँ। वहाँ मैं गाँवसे, जहाँ मेरे पति कृषिके एक फार्मको वैज्ञानिक ढंगसे चलानेका प्रयोग कर रहे हैं, अपने बच्चोंको ले जाकर रखूँगी। मेरे पास कोई स्कूल खोलनेका साधन नहीं है और न मुझे इस बातका ही आश्वासन प्राप्त है कि मुझे अध्यापनकार्य करनेका ही मौक़ा मिलेगा। मैं कानपुर, बनारस, आगरा, लखनऊ अथवा किसी और शहरमें पढ़ाना पसन्द करूँगी। कभी-कभी मैं विक्षुब्ध और विचलित हो जाती हूँ, क्योंकि शिक्षा-प्रचारके सम्बन्धमें मेरा भावी कार्यक्रम एकदम अनिश्चित है।" मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि उन्हें भारतमें ज्ञान-प्रसारके कार्यमें अपना अंश प्रदान करनेका अवसर अवश्य ही मिलेगा।

रोममें चौथी भारतीय बहन बम्बईकी श्रीमती जमना परमानन्द हैं। वे भी विवाहिता हैं और भारतमें उनकी एक कन्या है। वे उत्साहसे उबल-सी रही थीं और बिलकुल बच्चोंकी तरह हँसती हैं। जब मैंने पूछा कि आपके मनमें सबसे ऊपर कौनसी बात है, तब उन्होंने जवाब दिया—"मैं अपनी बेटीकी बात सोच रही हूँ। यदि मैं अपने अध्ययनमें कोरकसर रखूँ और परीक्षा पास करके डिप्लोमा न प्राप्त कर सकूँ, तो मैं अपना मुँह उसे न दिखा सकूँगी। मैं अपनी प्यारी बेटीसे बहुत डरती हूँ।"

मैंने पूछा—"क्या आपकी छोटी लड़की ऐसी ज़बरदस्त है?"

उन्होंने कहा—"जब मैं मांटिसोरी-प्रणालीका अध्ययन करनेके लिए इंग्लैंड जानेका विचार कर रही थी, तब मेरी बेटीने, जो सात वर्षकी है, बड़ी दृढ़तासे कहा था कि यदि मैं पढ़नेके लिए इंग्लैंड जाऊँगी, तो वह मेरा बायकाट कर देगी। यह बात यद्यपि हँसीकी है, मगर है बड़ी अर्थपूर्ण। अपनी बेटीके इस कथनपर ही मैंने अपना इरादा बदल दिया और मेडम मांटिसोरीकी देखरेखमें ही अध्ययन करनेके लिए रोम आई। यहाँ हम लोगोंको कुछ दिक्कत होती है, क्योंकि हम लोग इटेलियन भाषा नहीं जानतीं; मगर फिर भी प्रत्येक व्यक्ति हम लोगोंके साथ बड़ी दयालुताका व्यवहार करता है। हम देखती हैं कि इटेलियन लोगोंका स्वभाव भी कुछ-कुछ भारतीयोंके स्वभावके समान है। उनके मनमें हम लोगोंके विरुद्ध किसी प्रकारका पक्षपात या द्वेष नहीं है। भारतमें हम लोगोंकी शिक्षा-प्रणाली बहुत दोषपूर्ण है, क्योंकि हमें विदेशी भाषाओंकी शिक्षा नहीं दी जाती। प्रत्येक भारतीय यूनिवर्सिटीमें विदेशी भाषाओंकी शिक्षा पानेकी सुविधा होनी चाहिए।"

श्रीमती परमानन्दने भारतमें यूनिवर्सिटीकी शिक्षा पाई है और भारत लौटकर वे बम्बई-फेलोशिप स्कूलमें काम करेंगी। स्थानाभावसे मैं भारतकी इन प्रतिनिधि महिलाओंकी बातचीतके अन्यान्य उत्साहोत्पादक अंश यहाँ नहीं दे सकता; मगर उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि वे देश लौटनेके पूर्व स्विट्ज़रलैण्ड, जर्मनी तथा अन्यान्य यूरोपियन देशोंका भ्रमण करेंगी। वे इटेलियनोंमें तथा अन्य देशोंके विद्यार्थियोंमें भारतके प्रति मित्रताका भाव उत्पन्न कर रही हैं।

हमें अपने रोमके प्रवासमें यह भी मालूम हुआ कि पाँच भारतीय नवयुवक इटलीके विभिन्न सांस्कृतिक केन्द्रोंमें इंजीनियरी पढ़ रहे हैं। हमें उनसे मिलनेका अवसर नहीं मिला। यह जानकर भी बड़ा सन्तोष हुआ कि रोम-यूनिवर्सिटीने कलकत्ता-यूनिवर्सिटीके प्रोफेसर श्री विनयकुमार सरकारको अपने यहाँ व्याख्यान देनेके लिए निमंत्रित किया है। गत १६ मार्चको सरकार महोदयने 'भारतीय उद्योग और व्यापारके अन्तर्राष्ट्रीय महत्व' पर व्याख्यान दिया था। इस व्याख्यानमें न केवल उत्तरदायी इटेलियन सज्जन सम्मिलित हुए थे, बल्कि रोमके इटेलियन समाचारपत्रोंने इसकी लम्बी रिपोर्टें भी प्रकाशित की थीं। इटेलियन प्रेस, इटलीका सुसंस्कृत समाज और इटलीके व्यापारी भारतकी जाग्रतिमें बड़ी दिलचस्पी ले रहे हैं। इटली तथा अन्यान्य पाश्चात्य देशोंके राजनीतिज्ञोंकी समझमें यह बात आ गई है कि भारतवर्ष संसारकी राजनीतिका केन्द्र है। विशाल भारतने नवीन इटलीसे सम्बन्ध स्थापित किया है, परन्तु इस सम्बन्धका इस प्रकार परिचालन करना चाहिए, जिससे वह अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता और सांस्कृतिक सहयोगके रूपमें विकसित हो। युवक भारत नवीन इटलीसे बहुतसी बातें सीख सकता है। समाजका पुनर्गठन, फेसिस्ट-सरकार द्वारा स्थापित 'अवकाश-पाठशालाएँ' (After work Schools), मातृत्व सहाय-प्रणाली, मजूर और पूँजीपतियोंमें सहयोग आदि अनेक विषय हैं, जिनमें हम उनसे शिक्षा ले सकते हैं। राष्ट्रीय-शिक्षा और सैनिक शिक्षाके सम्बन्धमें भी फेसिस्टोंकी सैनिक प्रणालीके विकासके व्यावहारिक तरीकोंसे भारतवर्ष बड़ी मूल्यवान शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

इस लेखको समाप्त करनेके पूर्व मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि इटलीमें हम लोगोंने एक बहुत मनोरंजक संस्था देखी। यह है रोमकी 'अर्नेस्टा बेस्सो फाउन्डेशन', जिसे एक इटेलियन रईस मर्को बेस्सोने अपनी पत्नीकी यादगारमें स्थापित किया है। उसने अपना महल सरीखा मकान तथा एक अच्छी रक़म इसलिए दी है कि उससे प्राइमरी स्कूलोंकी महिला शिक्षिकाओंके लिए एक क्लब खोला जाय। इस संस्थाके संस्थापककी कन्या बैरोनैस लिया लम्ब्रोसो बेस्सो इसकी अध्यक्षा हैं, और रोमकी कई उन्नतिशील महिलाएँ इस संस्थाके कार्यको अग्रसर करनेमें व्यावहारिक रूपसे लगी हुई हैं। इस संस्थामें व्यावहारिक कला, शिक्षण-कला, संगीत आदि अनेक विषयोंकी निःशुल्क शिक्षा दी जाती है। भारतकी चारों महिला शिक्षिकाएँ इस संस्थाकी सदस्या बनाई गई हैं, जिससे उन्हें अनेकों इटेलियन शिक्षिकाओंसे मिलनेका अवसर प्राप्त होगा। इस संस्थामें सदस्याओंके लाभार्थ एक पुस्तकालय भी है। दानके इस व्यावहारिक सदुपयोगको देखकर मेरे मनमें यह भाव उठा कि क्या ही अच्छा हो, यदि कोई दूरदर्शी भारतीय दानी सज्जन भी भारतीय शिक्षिकाओंके लिए इस प्रकारकी कोई संस्था स्थापित करें।

भैयादाई

श्री विश्वेश्वरप्रसाद कोईराला

हम लोग उसे 'भैयादाई' * कहते। वह हमारा नौकर था। खेती-बारी देखता था। उससे और हम लड़कोंसे न मालूम कैसे मित्रता हो गई, मुझे अब याद नहीं। वह था बड़ा ही कुरूप और भयंकर। वह जब कानमें फुसफुसाता, तो मालूम पड़ता बगलवाले कमरेमें चक्की पीसी जा रही है। उससे सब डरते; भय था कहीं गाली न बक दे, पीट न दे। गाँव-भरमें उसीका बोलबाला था। क़दका लम्बा, काला, आँखें छोटीं, मूँछे खूब घनी। दाढ़ी भी थी। पैरके अंगूठे टेढ़ेमेढ़े थे। यही आकृति गाँववालोंपर आतंक जमानेके लिए पर्याप्त थी।

अभी-अभी उसने किसको कोधमें पटककर मार दिया, यह सबको मालूम था, लेकिन उसके भयसे किसीने मुँह नहीं खोला।

हम लोग पाँच छे वर्षके थे और हमारा दोस्त था वही लम्बा-चौड़ा 'भैयादाई'। वह कभी-कभी अपने खुरखु[रे] हाथोंसे हम लोगोंके हाथ बड़े ज़ोरोंसे मल देता—हम लोगोंको दर्द तो ज़रूर मालूम पड़ता, किन्तु साथ ही आनन्द भी कम नहीं मालूम होता—एक हल्कीसी गुदगुदी प्रतीत होती। हम लोग हँस देते, यद्यपि चेहरा अपने दर्द[की] गवाही देता।

उसके साथ चलनेमें हम लोगोंको गर्व होता था, क्यों[कि] हम लोगोंको मालूम था कि उससे गाँव-भर डरता है। ज[ब] उसके साथ हम लोग घूमने निकलते, तब उसे सब लो[ग] प्रणाम करते, किन्तु वह सबकी अवहेलना करते हुए आ[गे] बढ़ जाता। अहा, उस समयका हम लोगोंका आनन्द! [उस] समय हम लोग उससे और भी चिपक जाते, उसका ह[ाथ] पकड़कर कन्धेपर ले चलनेको कहते—लोगोंको यह दिखा[ने के] लिए कि उस महापुरुषपर हम लोगोंका एकमात्र अधि[कार] (Sole monopoly) है। हम लोग समझते कि स[ारा] गाँव हमें उसीकी तरह मानता है।

---

* भैयाके समान प्रिय और दाईके समान रक्षकको हम नेपालियोंमें 'भैयादाई' कहते हैं। ले०

उसकी नक़ल करनेकी खूब धुन सवार रहती, जिससे गाँववालोंपर हमारी भी धाक जमे। वह जिस राजसी शानसे चलता, हम लोग भी उसी तरह अकड़कर चलनेकी कोशिश करते। बाहर जाते समय वह एक रूमाल सिरपर बाँध लेता, हम लोग भी उसी तरह बाँधने लगे। यहाँ तक कि पिताजीसे मुलायम जूतोंके बजाय, उसीकी तरह चर्र-चर्र आवाज़ करनेवाले सिपाही फैशनके जूते खरीद देनेको कहते।

वह हम लोगोंका चौबीसों घंटेका साथी था—खेतमें उसीके साथ रहते, घरमें उसीसे बातें करते, रातमें भी उसीके कमरेमें सोते। पिताजीको इसमें कुछ भी आपत्ति न थी। वह हमें प्रायः कहानी सुनाता, बड़ा आनन्द आता। एक दिन वह सुनाने लगा—

"एक गाँवमें 'भटना' नामका एक मछुवा रहता था—बड़ा ही हँसमुख। एक ब्राह्मणकी लड़कीसे उसका स्नेह हो गया। गाँववालोंने यह जान लिया। लड़कीके पिताको यह अच्छा न लगा, आखिर वह ब्राह्मण था! किसी दूसरे गाँवमें उसने लड़कीकी शादी कर दी......।" इतना ही कहकर वह रुक गया। दूर पेड़की आड़में आकाश पृथ्वीको चूम रहा था। भैयादाईकी आँखोंमें आँसू झलक पड़े।

सब लड़कोंने कहा—"तब क्या हुआ?"

मैंने देखा, यह कहानी कहनेसे उसे दुःख हो रहा है। मैं बोला—"नहीं, किस्सा पसन्द नहीं आया, कोई दूसरी बात छेड़ो।" भैयादाईने मेरी ओर सजल नेत्रोंसे देखकर मुझे गोदमें ले लिया।

इसी तरह वह नित्य कहानी सुनाया करता।

एक दिन हम लोगोंको साथ लेकर वह खेतपर गया। वहीं कहानी जमी। मैं बीच ही में कुछ बोलने लगा। भैयादाईने बोलनेसे मना किया। मैंने समझा—'मेरा ही तो भैयादाई है, क्या करेगा।' मैं बोलता ही गया। उसने कसकर दो तमाचे मेरे गालमें जमा दिये। यहीं मेरा सब अभिमान टूट गया। सब साथियोंके सामने मेरा यह अपमान!

रोते-रोते मैंने कहा—"जाओ, मैं नहीं बोलूँगा तुमसे।"—यह कहकर मैं घरकी ओर चला।

किन्तु मैं तो उसको दिखानेके लिए रोया था, रोना तो रास्ते ही में बन्द हो गया, और सोचने लगा—अब कैसे भैयादाईको खुश करूँ। मैंने बड़ी ग़लती की! किस्सेमें भी क्या मज़ा था—अभी-अभी परी राजकुमारको अंगूठी देकर आकाशमें विलीन हो गई थी। इसके आगे क्या था, पता नहीं। क्या परी फिर न लौटेगी? पतंगकी डोरकी भाँति कहानीके पीछेका हिस्सा अदृश्य रहा, केवल परी आकाशमें पतंगकी भाँति दूर उड़ती हुई दिखाई दे रही थी। मेरे लिए तो कहानीका यहीं अन्त है, परी अब मेरे लिए न लौटेगी!

मैं घर पहुँच गया। गालोंपर आँसू सूख गये थे, उन्हें पोंछा। फिर प्रसन्न चेहरा बनाकर माके पास गया। माने पूछा—"आज भैयादाईके पास नहीं गये, क्यों?"

हृदयमें जो कुछ दबा हुआ था, वह माकी बात सुनते ही उबल पड़ा। अपनेको कितना रोका, रोक नहीं सका। आखिर आँसू गिर ही पड़े। सिसकते हुए मैंने कहा—"वह मुझे कहानी नहीं सुनाता।"

"तो रोता क्यों है?"—माने हँसते हुए कहा और बड़े स्नेहसे चुम्बन किया।

× × × मा चली गई। मैं और फूट-फूटकर रोने लगा उन साथियोंके भाग्यपर, जो कहानी सुन रहे थे। मुझे बड़ी ईर्ष्या हो आई, और भैयादाईने—देखो तो! जब मैं आ रहा था, मुझे फुसलाकर रोका भी नहीं!

जब शामको सब खेतसे आ गये, मैं किसीसे नहीं बोला।

रातको सब फिर उसीके कमरेमें जुट गये। फिर कहानी सुनने लगे। मैं धीरे-धीरे कमरेके दरवाज़ेके पास जाकर झाँकने लगा, किन्तु भीतर तो न जाऊँगा, हर्गिज़

नहीं। भैयादाई दरवाज़े ही की ओर मुँह किये क़िस्सा सुना रहा था। उसने मुझे देख लिया। हँसकर बोला—"छिपते क्यों हो? आओ, गुस्सा हो गये क्या?"—यह कहकर उसने मुझे उठा लिया और अपनी गोदीमें बैठाकर कहानी सुनाने लगा। मैं आनन्दसे नाच उठा—मेरा कितना सम्मान!

इसी तरह दिन बीतते गये।

× × ×

एक दिन जब वह खेतसे लौटा, बड़ा मुरझाया हुआ दीख पड़ा। हम लोगोंने पूछा—'क्या हुआ भैयादाई?"

"कुछ भी नहीं"—उसने हँसते हुए कहा।

उसी दिन रातको उसे बुखार आया।

बुखार बढ़ता ही गया। दिन-प्रतिदिन उसकी दशा खराब होती गई। अब वह क़िस्सा नहीं सुनाता। जब हम लोग उसके कमरेमें जाते, वह केवल हम लोगोंकी ओर एकटक देखता रहता।

धीरे-धीरे पिताजीने हम लोगोंको उसके कमरेमें जानेसे भी मना कर दिया। तब हम लोग उस कमरेके चारों ओर घूमते रहते और इधर-उधर देखते, कोई नहीं होता, तो भीतर घुस जाते। किन्तु हा! कमरा कभी खाली नहीं रहता—कभी डाक्टर, तो कभी पिताजी उपस्थित रहते। हम अपने पुराने साथीसे एकान्तमें मिलनेके लिए तरस उठते।

एक दिन खानेके बाद हम लोग उसके कमरेकी ओर दौड़ गये। वहाँ न डाक्टर था, न पिताजी; किन्तु वह कहाँ था? हमने सोचा—कहीं छिपा होगा! जिस तरह आँखमिचौनी खेलते-खेलते कहीं छिप जाता था!

हम लोगोंने कोना-कोना ढूँढ़ डाला, वह नहीं मिला। कहाँ गया? बड़े ही कातर स्वरसे हम लोगोंने चिल्लाया—"भैयादाई! भैयादाई!"

उसका जूता वहीं पड़ा था, बिस्तर भी वहीं, किन्तु वह नहीं था। हम लोग खेतोंकी ओर दौड़े गये, उस एकान्त मचानकी ओर दौड़े, जहाँ भैयादाई दोहपरमें पसीनेसे लथपथ विश्राम करता हुआ अपनी तान छेड़ा करता था; किन्तु वह वहाँ भी नहीं था। प्रकृति निस्तब्ध और शान्त थी। केवल हम लोगोंके अशान्त हृदयसे यह करुण चीत्कार निकलकर शून्यमें विलीन हो रहा था—"भैयादाई! भैयादाई!"
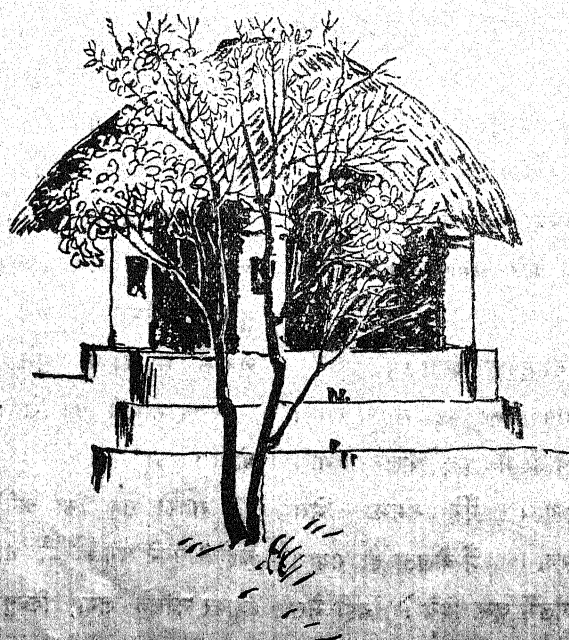
शिवाजीकी जीवन-सन्ध्या

सर यदुनाथ सरकार

स्त्रियोंकी वीरता

पूर्व कर्णाटक-विजयके बाद शिवाजी मैसूर होते हुए सन् १६७८ के शुरू ही में पश्चिम कनाड़ा बालाघाट—अर्थात् महाराष्ट्रके दक्षिण वर्तमान धारवार ज़िलेमें पहुँचे। इस अंचलके लक्ष्मीश्वर इत्यादि नगर लूटकर और चौथ वसूलकर वे उसके उत्तर बेलगाँव ज़िलेमें घुसे। बेलगाँव-क़िलेके तीस मील दक्षिण-पूर्व बेलवाड़ी नामके गाँवसे जाते समय इस गाँवकी पटेलिन (ज़मींदारिन) सावित्रीबाई नामकी कायस्थ विधवाके नौकरोंने मराठी फ़ौजके कितने ही माल लादनेवाले बैल छीन लिये। इससे शिवाजीने गुस्सेसे बेलवाड़ीका क़िला जा घेरा। सावित्रीबाईने इतने बड़े विजयी वीर और उनकी अगणित सेनाके विरुद्ध अदम्य साहससे भिड़कर सताईस दिन तक अपने छोटे क़िलेकी रक्षा की। अन्तमें उसकी रसद और बारूद खतम हो गई। मराठोंने बेलवाड़ीपर कब्ज़ा कर लिया। वीर नारी पकड़ी गई। एक ऐसे छोटे स्थानमें इतने दिन तक कुछ कर-धर न सकनेके कारण शिवाजीकी बड़ी भद् उड़ी। अंग्रेज़ी कोठीके साहब (२८ फरवरी, १६७८ ई० को) लिखते हैं—"उन्हींके आदमी वहाँसे आकर कहते हैं कि बेलवाड़ीमें उन्हें जितनी हैरानी उठानी पड़ी, उतनी उनको मुग़लों या बीजापुरके साथ लड़नेमें भी नहीं उठानी पड़ी थी। जिन्होंने इतने राज जीते हैं, वे क्या अन्तमें एक औरतको भी नहीं हरा सकते!"

बीजापुर पानेकी कोशिश बेकार

इसी बीचमें शिवाजीने घूस देकर बीजापुरका क़िला लेनेकी चाल चली। बात यह थी कि वज़ीर बहलोल खांकी मृत्यु (२३ दिसम्बर, १६७७) के बाद उनके गुलाम जमशेद खांको इस क़िले और बालक राजा सिकन्दर आदिलशाहकी देखरेखका भार मिला था; किन्तु जब उसने देखा कि उनकी रक्षा कर सकनेकी उसमें शक्ति न थी, तब वह तीस लाख रुपयोंके बदलेमें नाबालिग़ सुलतान और राजधानीको शिवाजीके हाथ सौंपनेके लिए राज़ी हो गया। यह खबर सुन अदोनीके नवाब सिद्दी मसऊदने (मृत सिद्दी जौहरका दामाद) चुपकेसे यह प्रचार कर दिया कि वह सख्त बीमार है। अन्तमें उसने अपने मरनेका हल्ला भी मचा दिया। यहाँ तक कि एक पालकीमें उसका नक़ली ताबूत (लाश रखनेका बक्स) रखकर कई हज़ार गारदके साथ क़ब्रमें दफ़नानेके लिए अदोनी भेजा गया! उसकी बाक़ी फौज—चार हज़ार सवारोंने बीजापुर जाकर जमशेदसे कहा—"हमारे मालिकके मर जानेसे हमें रोटी नहीं मिलती, आप हमें अपनी खिदमतमें रख लें।" उसने भी उन लोगोंको भर्ती कर क़िलेके भीतर स्थान दे दिया। उन लोगोंने दो दिन बाद जमशेदको क़ैदकर बीजापुरका फाटक खोल सिद्दी मसऊदको भीतर बुलाया। मसऊद (२१वीं फरवरी को) वज़ीर हुए। शिवाजी इस अन्तिम लाभकी आशामें विफल हो पश्चिमकी ओर मुड़े और अपने पनहालाके क़िलेमें (अन्दाजन १६७८ की ४ अप्रेलको) प्रवेश किया।

मराठोंकी अन्य लड़ाइयाँ और देश जीतना

जिस समय शिवाजी कर्णाटककी चढ़ाईमें पन्द्रह महीने तक अपने देशसे ग़ैरहाज़िर थे, उस समय उनकी फौजने गोआ और दामनके अधीन पुर्तगालोंके प्रदेशपर आक्रमण किये, पर इसका कोई फल न हुआ। सूरत और नासिक ज़िले पेशवाने तथा पश्चिम-कनाड़ा दत्ताजीने कुछ दिन तक लूटा, किन्तु इससे भी देश नहीं जीता गया।

सन् १६७८ के अप्रेलके आरम्भमें शिवाजीने देश

लौटकर कोपल अंचल—अर्थात् विजयनगर शहरके उत्तरमें तुंगभद्रा नदीके उस पार—और उसके पश्चिममें गदग महाल जीतनेके लिए सेना भेजी। हुसेन खां और क़ासिम खां मियाना दोनों भाई बहलोल खांके स्वजातिके थे। कोपल प्रदेश इन दोनों अफ़ग़ान उमराओंके अधीन था। शिवाजीने सन् १६७८ में गदग और दूसरे साल मार्चके महीनेमें कोपलपर अधिकार कर लिया। 'कोपल दक्षिण देशका प्रवेश-द्वार' है। यहाँसे तुंगभद्रा नदी पार हो उत्तर पश्चिमके कोनेसे सहज ही में मैसूर जाया जा सकता है। इस रास्तेसे घुसकर मराठोंने इस नदीके दक्षिण बेलारी और चितलदुर्ग ज़िलेके अनेक स्थानोंपर अपना अधिकार जमाया और पलिगरोंको वशमें कर लिया। इस प्रान्तके जीते हुए देशोंको मिलाकर शिवाजीने उसे अपने राजका एक नया प्रदेश बनाया। उसके हाकिम हुए जनार्दन नारायण हनुमन्ते।

शिवाजीके देश लौटनेके एक महीने बाद ही उनकी सेनाने फिर रातको शिवनेरदुर्गपर आक्रमण किया, किन्तु बादशाही क़िलेदार अब्दुल अजीज खां जागता था। उसने आक्रमणकारियोंको मारकर भगा दिया। क़ैदी शत्रुओंको भी छोड़ दिया और उनके द्वारा शिवाजीका कहला भेजा— "जितने दिन मैं क़िलेदार हूँ, उतने दिनों तक इस क़िलेपर अधिकार करना तुम्हारा काम नहीं।"

इधर बीजापुरकी हालत बड़ी ही खराब हो चली। वज़ीर सिद्दी मसऊद ही सर्वेसर्वा था, बालक सुलतान उसके हाथकी कठपुतली थे। चारों ओर शत्रुओंके उत्पातसे वज़ीर घबरा उठा। मृत बहलोल खांका अफ़ग़ान-दल रोज़ उसका अपमान करता और डराता था। राजके चारों ओर शिवाजी बिना रोक-टोक लूट-मार करते और प्रदेशोंपर दखल जमाते थे। राजकोषमें रुपया नहीं था। दलबन्दीके कारण राजशक्तिमें कुछ दम न था। कुछ दिन पहले जिन शर्तोंपर मुग़ल सेनापतिके साथ कुलबर्गेमें सन्धि हुई थी, उन्हें बीजापुर-राजवंशके हक़में बहुत अपमानजनक और हानिकारक बताकर सब लोग मसऊदको धिक्कारने लगे। चारों ओर अँधेरा देख किंकर्तव्यविमूढ़ मसऊदने शिवाजीसे मदद माँगते हुए कहा— 'आपने (शिवाजीने) भी आदिलशाही वंशका नमक खाया है, और हम दोनों एक ही देशके रहनेवाले हैं। मुग़ल दोनोंके शत्रु हैं। दोनोंको मिलकर मुग़लोंको दबाना उचित है।'' इस सन्धिकी बातचीत सुनकर दिलेर खांने गुस्सेसे बीजापुरपर (सन् १६७८ के अन्तमें) आक्रमण किया।

शम्भूजीका भागकर दिलेर खांसे जा मिलना

शिवाजीके बड़े लड़के मानो पिताके पापके फलस्वरूप जन्मे थे। इक्कीस वर्ष ही की उम्रमें वे उद्धत, मनमौजी, नशेबाज़ और लम्पट हो गये थे। एक सधवा ब्राह्मणीका धर्म नष्ट करनेके कारण न्यायपरायण पिताके आदेशसे वे पनहाला-क़िलेमें बन्द कर दिये गये थे। वहाँसे शम्भूजी अपनी स्त्री येसूबाईको साथ ले चुपचाप भागकर दिलेर खांसे (१३ दिसम्बर १६७८ को) जा मिले। शम्भूजीको पाकर दिलेर मारे खुशीके फूल गया। "इसी बीचमें मानो उसने सारा दाक्षिणात्य जीता हो, ऐसी उछल करने लगा। उसने यह खुशखबरी बादशाहके पास भी भेजी।" औरंगज़ेबकी ओरसे शम्भूजीको सात हज़ारकी मनसबदारी, राजाकी उपाधि और एक हाथी दिया गया। उसके बाद दोनों बीजापुरपर कब्ज़ा करने चले।

इस आफतमें सिद्दी मसऊदने शिवाजीकी शरण ली। शिवाजीने झटपट छै-सात हज़ार अच्छे-अच्छे सवार बीजापुरकी रक्षाके लिए भेजे। उन लोगोंने जाकर राजधानीके बाहर खानापुरा और खसरूपुरा गाँवमें अड्डा जमाया, और कहला भेजा कि बीजापुर-क़िलेका एक दरवाज़ा और एक बुर्ज उनके हाथ छोड़ दिया जाय। मसऊदने उनके ऊपर विश्वास न किया, तब मराठोंने बीजापुरपर दखल करनेकी एक और चाल सोची। उन्होंने कुछ हथियार चावलके बोरोंमें छिपाकर बोरे बैलोंकी पीठपर लाद दिये और अपने कतिपय सिपाहियोंको बैल हाँकनेवालोंकी पोशाकमें बाज़ार भेजनेके

बहाने क़िलेके भीतर घुसानेकी चेष्टा की ; लेकिन वे पकड़े और खदेड़े गये। उसके बाद मराठोंने इन मित्रके गाँवोंको लूटना आरम्भ किया। मसऊदने आजिज़ आकर दिलेर खांके साथ निपटारा कर लिया। उसने बीजापुरमें मुग़ल फौजको बुलाकर मराठोंको भगा दिया।

दिलेरका भूपालगढ़ जीतना

उसके बाद शम्भूजीको साथ ले दिलेर खांने शिवाजीका भूपालगढ़ नामक क़िला तोपके ज़ोरसे छीन लिया। वहाँ उसने प्रचुर अन्न, धन, जायदाद आदि लूटी और बहुत लोगोंको क़ैद किया। इन क़ैदियोंमें से कुछका एक-एक हाथ कटवाकर छोड़ दिया। बाक़ी सब गुलाम बनाकर बेच दिये गये (२ अप्रेल, १६७६)। क़िलेकी दीवारें और बुर्ज तोड़ दिये गये। उसके बाद छोटी-मोटी लड़ाइयाँ और बीजापुर-दरबारकी अनन्त दलबन्दी और षड्यन्त्र कई महीने तक चलते रहे। किसीकी कुछ व्यवस्था न हो सकी।

सन् १६७६ की २ अप्रेलको औरंगज़ेबने हुक्म जारी किया कि हमारे राज्यमें सर्वत्र हिन्दुओंकी मूँड़ गिनती की जाय और हरएकके लिए हरसाल तीन श्रेणीकी आमदनीके हिसाबसे १३॥।-) ६॥-), और ३।-) 'जज़िया कर' लिया जायगा। बादशाहके इस नये और अन्यायपूर्ण प्रजापीड़नका समाचार पाकर शिवाजीने उनको नीचे लिखा हुआ सुन्दर पत्र लिखा। नीलोजी प्रभु मुन्शीने सुललित फारसीमें इस पत्रकी रचना की थी।

जज़िया-करके विरुद्ध औरंगज़ेबको शिवाजीका पत्र

"बादशाह आलमगीर ! सलाम। मैं आपका दृढ़ और चिरहितैषी शिवाजी हूँ। ईश्वरकी दया और बादशाहके सूर्यकिरणसे भी उज्ज्वलतर अनुग्रहके लिए धन्यवाद प्रदानकर निवेदन करता हूँ कि—

यद्यपि यह शुभाकांक्षी दुर्भाग्यवश आपके महिमामंडित सन्निधिसे बिना अनुमति लिए ही आनेको बाध्य हुआ था, तथापि मैं जितना सम्भव और उचित हो सकता है, सेवकके कर्त्तव्य और कृतज्ञताका दावा सम्पूर्ण रूपसे सम्पन्न करनेमें हमेशा हाज़िर हूँ।

× × ×

सुनता हूँ कि मेरे साथ लड़ाई लड़नेके कारण आपका धन और राजकोष शून्य हो गया है, और इसी कारण आप हुक्म दे बैठे हैं कि जज़िया नामक कर हिन्दुओंसे वसूल किया जाय, और वह आपके अभावको पूर्ण करनेमें काम आवे।

बादशाह सलामत ! इस साम्राज्य-सौधके निर्माता अकबर बादशाहने पूर्ण-गौरवसे ५२ (चान्द्र) वर्ष राज किया। उन्होंने सब धर्म-सम्प्रदायके प्रति—जैसे, क्रिस्तान, यहूदी, मुसलमान, दादूपन्थी, नक्षत्रवादी (फलकिया=गगनपूजक ?), परीपूजक (मालाकिया), विषयवादी (आनसरिया), नास्तिक, ब्राह्मण और श्वेताम्बरदिगोंके प्रति—सार्वजनीन मैत्री (सुलह-इ-कुल=सबके साथ शान्ति) की सुनीतिका अवलम्बन किया था। उनके उदार हृदयका उद्देश्य था सबकी रक्षा और पोषण करना। इसीलिए उन्होंने 'जगत्गुरु'का अमर नाम हासिल किया था।

उसके बाद बादशाह जहाँगीरने २२ वर्ष तक अपनी दयाकी छाया जगत् और जगतवासियोंके सिरके ऊपर फैलाई। उन्होंने अपना हृदय बन्धुओंके तथा प्रत्यक्षकार्य करनेमें दिया, और इस प्रकार मनकी वासनाओंको पूर्ण किया। बादशाह शाहजहाँने भी ३२ वर्ष राजकर सुखी पार्थिव जीवनके फलस्वरूप अमरता अर्थात् सौजन्य और सुनाम कमाया। फारसीका पद्य है—

जो आदमी जीवनमें सुनाम अर्जन करता है वह अक्षय धन पाता है, कारण, मृत्युके उपरान्त उसके पुण्यचरितकी कथा उसके नामको जीवित रखती है।

अकबरकी उदारताका ऐसा पुण्य-प्रभाव था कि वह जिस ओर चाहते थे, उसी ओर विजय और सफलता आगे बढ़कर उनका स्वागत करती थी। उनकी अमलदारीमें बहुतसे देश और क़िले जीते गये। इससे पहलेके सम्राटोंकी शक्ति और ऐश्वर्य सहज ही समझमें आता है। आलमगीर बादशाह जिनकी राजनीति अनुसरणमात्र करनेमें

विफल और व्यग्र हो गये हैं, उन लोगोंमें भी जज़िया-कर लगानेकी शक्ति थी ; परन्तु उन लोगोंने अन्ध-विश्वासको हृदयमें स्थान नहीं दिया, क्योंकि वे जानते थे कि ईश्वरने ऊँच-नीच सब आदमियोंको भिन्न-भिन्न धर्मोंमें विश्वास और प्रवृत्तियोंके दृष्टान्त दिखानेके लिए सृष्टि की है। उनके दया-दाक्षिण्यकी ख्याति उनकी स्मृतिके रूपमें अनन्त काल तक इतिहासमें लिखी रहेगी, और इन तीन पवित्र आत्माओं (सम्राटों) के लिए प्रशंसा और मंगल-कामना बहुत दिन तक छोटे-बड़े सभी आदमियोंके कंठों और हृदयमें वास करेगी। लोगोंकी हृद्गत आकांक्षाके कारण ही सौभाग्य और दुर्भाग्य आते हैं, अतएव उनकी धन-सम्पत्ति दिनपर दिन बढ़ती ही गई। ईश्वरके प्राणी उनके सुशासनके कारण शान्ति और निर्भयतासे शय्यापर आराम करने लगे, और उनके सब काम सफल हुए।

और आपके राजत्वमें ? बहुतसे क़िले और प्रदेश आपके हाथसे छूट गये और बाक़ी भी शीघ्र छूटेंगे, क्योंकि उनके नाश और छिन्न-भिन्न करनेमें मेरी ओरसे कोशिशमें कमी न होगी। आपके राजमें रिआया कुचली जा रही है। हरएक गाँवकी उत्पत्ति कम हो गई है। एक लाखकी जगह एक हज़ार और एक हज़ारके स्थानमें दस ही रुपये वसूल होते हैं, वह भी बड़े कष्टसे। बादशाह और राजपूतोंके दरबारमें आज दरिद्रता और भिक्षावृत्तिने अड्डा जमा लिया है। उमराओं और अमलोंकी हालत तो सहज ही में सोची जा सकती है। आपकी अमलदारीमें सेना अस्थिर है, और बनिये अत्याचारसे पिसे हुए हैं। मुसलमान रोते हैं। हिन्दू जलते हैं। प्रायः सारी प्रजाको ही रातको रोटी नहीं नसीब होती है, और दिनको मनके सन्तापके कारण हाथ मारनेसे गाल लाल होते हैं।

ऐसी दुर्दशामें प्रजाके ऊपर जज़ियाका बोझ लाद देनेके लिए आपके राज-हृदयने आपको कैसे प्रेरित किया ? बहुत जल्द ही पश्चिमसे पूर्व तक यह अपयश फैल जायगा कि हिन्दुस्तानके बादशाह भिक्षुकोंकी थालियोंपर लुब्धदृष्टि डालकर ब्राह्मण पुरोहित, जैन यति, योगी, संन्यासी, वैरागी, दिवालिया, निर्धन और अकालके मारे लोगोंसे जज़िया ले रहे हैं। भिक्षाकी झोलीकी छीना-झपटीमें आपका विक्रम प्रकाशित हो रहा है ! आपने तैमूरवंशका नाम और मान डुबो दिया है !

बादशाह सलामत ! यदि आप खुदाकी किताब (क़ुरानशरीफ) में विश्वास करते हों, तो उसे देखें ; आपको मालूम होगा कि वहाँ लिखा है कि ईश्वर सबका मालिक है (रब्-उल्-आलमीन्), केवल मुसलमानोंका मालिक (रब्-उल्-मुसलमीन्) नहीं है। यथार्थमें इसलाम और हिन्दू-धर्म दो भिन्नतावाचक शब्दमात्र हैं, मानो ये दो भिन्न रंग हैं, जिनसे स्वर्गस्थ चित्रकारने रंग देकर मानव-जातिके (नाना वर्णपूर्ण) चित्रपटको पूरा किया है।

मसजिदमें उसके स्मरणके लिए अज़ान दी जाती है। मन्दिरमें उसकी खोजमें हृदयकी व्याकुलता प्रकाशित करनेके लिए ही घंटा बजाया जाता है। अतएव अपने धर्म और कर्मकाण्डके लिए कट्टरपना करना ईश्वरके ग्रन्थकी बातोंको बदल देनेके सिवा और कुछ नहीं है। चित्रके ऊपर नई रेखा खींच हम लोग दिखाते हैं कि चित्रकारने भूल की है !

यथार्थमें धर्मके अनुसार जज़िया किसी प्रकार भी न्याय-संगत नहीं है। राजनीतिके पहलूसे देखनेसे जज़िया केवल उसी युगमें न्याय हो सकता है, जिस युगमें सुन्दरी स्त्रियाँ सोनेके गहने पहनकर बेखटके एक जगहसे दूसरी जगह सही-सलामत जा सकती हैं ; परन्तु आजकल आपके बड़े-बड़े शहर लुटे जा रहे हैं, गाँवोंकी बात ही क्या ? जज़िया न्याय-विरुद्ध है। उसके सिवा इस भारतमें यह एक नया अत्याचार है, और यह हानिकारक है।

अगर आप खयाल करें कि रिआयाके ऊपर जुल्म करनेसे और हिन्दुओंको डर दिखाकर दबा रखनेसे आपका धर्म प्रमाणित होगा, तो पहले हिन्दुओंके शिरमौर महाराणा राजसिंहसे जज़िया वसूल कीजिए। उसके बाद मुझसे वसूल करना कठिन न होगा, क्योंकि मैं तो आपकी सेवाके

लिए हरदम हाज़िर हूँ। परन्तु इन मक्खियों और चींटियोंको तकलीफ देनेमें कोई पुरुषार्थ नहीं है।

यह बात मेरी समझमें नहीं आती कि आपके कर्मचारी क्यों ऐसे अद्भुत प्रभुभक्त बने हैं कि वे आपको देशकी असली अवस्था नहीं बताते, बल्कि उलटा जलती हुई आगको खरसे दबाकर छिपाना चाहते हैं।

आपका राजसूर्य गौरवके गगनमें कान्ति विकीर्ण करता रहे।'' *

दिलेरका बीजापुरपर आक्रमण करना और शिवाजीका आदिलशाहके पक्षमें जा मिलना

सन् १६७६ के १८ अगस्तको दिलेर खांने भीमा नदी पारकर बीजापुर राज्यके ऊपर चढ़ाई की। मसऊदने निरुपाय हो, शिवाजीके पास हिन्दूराव नामक दूत द्वारा यह करुण निवेदन भेजा—''इस राजकी हालत आपसे छिपी नहीं है। हम लोगोंके पास सैन्य नहीं है, रुपये नहीं हैं, रसद नहीं है—क़िलेके बचावके लिए कुछ भी सामान नहीं है। मुग़ल शत्रु प्रबल है और हमेशा लड़नेके लिए तैयार है। आप इस वंशके दो पुश्तके नौकर हैं। इन राजाओंके हाथसे आपने मान-मर्यादा पाई है, अतएव इस राजवंशके लिए दूसरोंकी अपेक्षा आपको ज्यादा दुख-दर्द होना चाहिए। आपकी सहायता बिना हम लोग इस देश और क़िलोंकी रक्षा करनेमें असमर्थ हैं। नमकहलाली कीजिए। हम लोगोंके पक्षमें आइये। आप जो चाहें, हम देंगे।''

इसपर शिवाजीने बीजापुरकी रक्षाका भार लिया। मसऊदकी सहायतासे उन्होंने दस हज़ार सवार और दो हज़ार बैलोंपर रसद लादकर राजधानीमें भिजवाई, और अपनी प्रजाको हुक्म दिया कि जिससे जितना हो सके, वह खानेकी चीज़ें, कपड़े इत्यादि बीजापुरमें बिक्री करें। उनके दूत बिसाजी नीलकंठने जाकर मसऊदको ढाढ़स दिया—''आप क़िलेकी रक्षा कीजिए। हमारे प्रभु जाकर दिलेरको उचित शिक्षा देंगे।''

१५ सितम्बरको भीमाके दक्षिण किनारे धूलखेड़ गाँवसे चलकर दिलेर खां ७ अक्टूबरको बीजापुरसे उत्तर छै मीलकी दूरीपर जा पहुँचा। इस महीनेके आख़िरमें शिवाजी अपनी दस हज़ार फौज लेकर बीजापुरसे लगभग पचास मील पश्चिमकी ओर सेलगुड़ नामक स्थानमें पहुँचे। इससे पहले उनके जो दस हज़ार सवार बीजापुरकी ओर आये थे, वे भी यहाँ उनसे आ मिले। सेलगुड़से शिवाजी खुद आठ हज़ार सवार ले सीधे उत्तरकी ओर और उनके दूसरे सेनापति आनन्द राव दस हज़ार घुड़सवार लेकर उत्तर-पूर्वकी ओर मुग़ल राज्य लूटने और भस्म करनेके लिए छूटे। उन्होंने सोचा कि दिलेर अपने प्रदेशकी रक्षा करनेके लिए जल्द ही बीजापुर राज्य छोड़कर भीमा पार हो उत्तरकी ओर लौटेगा, परन्तु दिलेरने बीजापुरी राजधानी और राजाको अपने अधिकारमें करनेके लोभमें पड़ अपने मालिकके राज्यकी दुर्दशाकी ओर दृष्टि भी न डाली।

दिलेरकी निष्ठुरता और शम्भूजीका पनहाले लौटना

बीजापुरके समान मज़बूत और बड़े क़िलेको जीतना दिलेरका काम न था। स्वयं जयसिंह भी यहाँ आकर विफल हुए थे। एक महीना व्यर्थ नष्ट करके, १४ नवम्बरको दिलेर खांने बीजापुर शहरसे हटकर उसके पश्चिमके धनशाली नगरों और ग्रामोंको लूटना आरम्भ किया। इस ओर मुग़ल आकर हमला करेंगे यह चिन्ता किसीने भी नहीं की थी। क्योंकि मुग़लोंके पीछेकी ओर राजधानी तब भी जीती नहीं गई थी। इसलिए इस ओरसे लोग नहीं भागे थे, और उन्होंने अपनी स्त्री, पुत्र, धन-सम्पत्ति आदि किसी निरापद स्थानमें नहीं हटाई थी। इस प्रकार अचानक दुश्मनोंके

* लन्दनकी 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' में रक्षित फारसी हस्तलिपिका अनुवाद। —ले०

हाथमें पड़कर उनकी बड़ी मिट्टीपलीद हुई। "हिन्दू और मुसलमान स्त्रियोंने बच्चोंको छातीसे चिपटाकर घरके कूओंमें कूद-कूदकर अपना सतीत्व बचाया। गाँवके गाँव लूट लिये गये और उजाड़ दिये गये। एक बड़े गाँवके तीन हज़ार हिन्दू-मुसलमान—जिनमें बहुतसे नज़दीकके छोटे-छोटे गाँवोंके भागे हुए शरण खोजनेवाले भी थे—गुलाम बनाकर बेंच डाले गये।"

इस प्रकार बहुतसे स्थानोंको ध्वंस करता हुआ दिलेर खां बीजापुरसे ४३ मील पश्चिमकी ओर आखनी पहुँचा। उसने इस बड़े धन-जनपूर्ण शहरको लूटकर जला डाला और वहाँके बाशिन्दोंको (२० नवम्बर) गुलाम बनाना चाहा। वे सबके सब हिन्दू थे। शम्भूजीने इस अत्याचारमें बाधा दी। दिलेर उनके मना करनेपर भी न माना। इसपर शम्भूजी उसी रातको अपनी स्त्रीको पुरुषकी पोशाक पहनाकर घोड़ेपर सवार हो, केवल दस सवारोंको साथ ले दिलेर खांके शिविरसे चुपचाप बाहर निकले और दूसरे दिन बीजापुर पहुँचकर मसऊदके यहाँ आश्रय लिया। यहां रहना भी निरापद न जानकर वे फिर भागे। रास्तेमें पिताके कतिपय सैनिकोंसे भेंट हुई, और उनकी मददसे (४ दिसम्बर, १६७६ को) पनहाला पहुँचे।

शिवाजीका जालना लूटना और आफतसे बचना

इसी बीचमें शिवाजी ४ नवम्बरको सेलगुड़से बाहर निकलकर मुग़ल राज्यमें घुस गये और रास्तेके दोनों ओरके स्थानोंको लूटते-पाटते और जलाते हुए आगे बढ़ने लगे। क़रीब १५ नवम्बरको उन्होंने जालना शहर (औरंगाबादसे ४० मील पूर्व) लूटा। परन्तु इस धन-जनपूर्ण वाणिज्यके केन्द्रमें उतना धन नहीं मिला, जितना मिलना चाहिए था। फिर उनको मालूम हुआ कि यहाँके महाजनोंने अपना-अपना रुपया-पैसा शहरके बाहर सैयदजान महम्मद नामक मुसलमान साधुके आश्रममें छिपा रखा है। क्योंकि यह सभी जानते थे कि शिवाजी मन्दिरों, मसजिदों, मठों और पीरोंके स्थानोंकी इज्ज़त करते हैं और उनपर हाथ नहीं डालते। इसपर सब मराठे सिपाही इस आश्रममें घुस गये और उन्होंने भगोड़ोंके रुपये पैसे छीन लिये। इस लूट-पाटमें मराठोंने किसी-किसीको घायल भी किया। जब साधुने आश्रमकी शान्ति भंग करनेको मना किया, तब वे सब उसको गाली देने लगे और मारनेको तैयार हो गये। इसपर गुस्सेसे उस महाशक्तिवान् पुण्यात्माने शिवाजीको शाप दिया। इसके पाँच महीनेके बाद शिवाजीकी मृत्यु हुई। लोगोंका कहना था कि पीरके क्रोधके कारण ही ऐसा हुआ।

मराठी फौज चार दिन तक जालना नगर और उसके आसपासके गाँव और बग़ीचे लूटकर अपने देशकी ओर यानी पश्चिमको लौटी। साथमें लूटके असंख्य रुपये, गहने, हीरे-जवाहरात, कपड़े, हाथी और घोड़े थे, इसलिए वे धीरे-धीरे जा रहे थे। रणमस्त खां नामक एक साहसी और तेज़ मुग़ल-फौजदारने उस समय पीछेसे आकर मराठी फौजपर आक्रमण किया। शिधोजी निम्बलकरने पाँच हज़ार फौज ले, उसकी ओर मुड़कर उसे रोका। तीन दिन तक लड़ाई चली। शिधोजी और उनकी दो हज़ार फौज मारी गई। इसी बीच रणमस्त खांकी सहायताके लिए मुग़ल-दाक्षिणात्यकी राजधानी औरंगाबादसे बहुतसी फौज आ रही थी। तीसरे दिन नई मुग़ल सेना लड़ाईकी जगहसे छै मीलकी दूरीपर पहुँचकर रातको वहीं ठहर गई। अब तो शिवाजी चारों ओरसे घिर गये और उनके पकड़े जानेमें कोई संशय नहीं रहा, लेकिन इस नई फौजके सरदार केशरी सिंहने चुपचाप उसी रातको शिवाजीको कहला भेजा कि सामनेका रास्ता बन्द न होनेके पहले ही आप सर्वस्व छोड़कर इसी दम देश भाग जायँ। हालत हक़ीक़तमें बहुत बुरी देखकर शिवाजी लूटका माल, दो हज़ार घोड़े इत्यादि सब सामान उसी जगह छोड़कर, केवल पाँच सौ चुने हुए सवार लेकर स्वदेशकी ओर रवाना हुए। उनके चालाक प्रधान चर बहिरजीने एक अज्ञात रास्ता दिखाकर, तीन दिन तीन रात लगातार कूच करके उन्हें एक निरापद स्थानमें पहुँचा दिया। इस प्रकार शिवाजीके प्राणकी रक्षा हुई। लेकिन इस

लड़ाई और भागनेमें उनके चार हज़ार सैनिक मारे गये। सेनापति हम्बीर राव भी इसी लड़ाईमें काम आये, और बहुतसे योद्धा मुग़लों द्वारा क़ैद कर लिये गये।

लूटका सब माल छोड़कर केवल पाँच सौ रक्षकोंके साथ शिवाजी थकेमाँदे (२२ नवम्बरको) पट्टादुर्गमें पहुँचे। यह नासिक शहरसे २० मील दक्षिण और तलघाट स्टेशनसे २० मील पूर्व है। यहाँ कुछ दिन आराम करनेके बाद वे चलने-फिरनेके योग्य हुए, इसीलिए पट्टादुर्गका नाम 'विश्रामगढ़' रख दिया गया।

परिवारकी अन्तिम व्यवस्था

इसके बाद दिसम्बर महीनेके शुरूमें उन्होंने रायगढ़ जाकर तीन सप्ताह बिताये। शम्भूजीके (४ दिसम्बरको) पनहाला लौट आनेपर शिवाजी खुद उस क़िलेमें जनवरीके आरम्भमें गये। नवम्बरके आख़िरी सप्ताहमें एक दल मराठी फौजने खान्देशमें प्रवेश कर धारणगाँव, चोपरा प्रभृति बड़े-बड़े बाज़ार लूटे थे।

बड़े लड़केके चरित्र और बुद्धिकी बात सोचकर शिवाजी अपने राज्य और वंशके भविष्यके सम्बन्धमें बहुत हताश हुए। उनके उपदेशों और मीठी बातोंका कुछ फल न हुआ। शिवाजीने पुत्रको अपने विशाल राज्यके सब महल, क़िले, धनभण्डार, हाथी, घोड़े और फौजकी तालिका दिखाई, और उसे सज्जन और उच्चाकांक्षी राजा होनेके लिए अनेक उपदेश दिये। शम्भूजीने पिताकी बातें चुपचाप सुनीं और अन्तमें बोले—"आपकी जैसी इच्छा, वही हो।" अपनी मृत्युके बाद महाराष्ट्र राज्यकी क्या दशा होगी, यह बात शिवाजीको स्पष्ट मालूम हो गई। इसी दुर्भावना और चिन्ताने उनकी आयुका ह्रास किया। शम्भूजी फिर पनहाले-क़िलेमें क़ैद रखे गये। शिवाजी (फरवरी १६८० को रायगढ़ लौट आये। उनके दिन निकट आ गये हैं, यह समझकर शिवाजीने जल्दी-जल्दी अपने दस वर्षके छोटे लड़के राजारामका उपनयन और विवाह (७ और १५ मार्चको कर दिया)।

शिवाजीकी मृत्यु

२३ मार्चको शिवाजीको बुखार और रक्त-आमाशय मालूम हुआ। बारह दिन तक तकलीफ कम न हुई। धीरे-धीरे उनके बचनेकी कोई आशा न रही। उन्होंने भी अपनी दशा समझ, कर्मचारियोंको बुलाकर उपदेश दिया। उन्होंने अपने रोते हुए स्वजन, प्रजा और सेवकोंसे कहा—"जीवात्मा अविनाशी है। हम युग-युगमें फिर भी पृथ्वीपर आवेंगे।" उसके बाद चिरयात्राके लिए प्रस्तुत हो, अन्तिम क्रियाकर्म करवाये।

आख़िरमें चैत्र-पूर्णिमाके दिन (रविवार, ४ अप्रेल, १६८० को) सबेरे उनका ज्ञान लोप हो गया, वे मानो सो गये। दोपहरको वह बेहोशी अनन्त निद्रामें परिणत हो गई! मराठा-जातिके नवजीवनदाता कर्मक्षेत्र शून्यकर, वीरवांछित धामको चले गये! उस समय उनकी उम्र ६ रोज़ कम ५३ वर्षकी थी।

सारा देश स्तम्भित और वज्राहत हो गया। हिन्दुओंकी अन्तिम आशा अस्त हो गई!

वीयनामें शिशु-मंगल-प्रतिष्ठान

श्री क्षीरोदचन्द्र चौधरी

अबसे दो वर्ष पहले जब मैं वीयना आया था, उस समय मुझे यह बात मालूम नहीं थी कि वीयनाकी शिशु-मंगल-संस्था संसारकी सर्वश्रेष्ठ शिशु-मंगल-संस्थाओंमें से एक अन्यतम है। वीयना-म्यूनिसिपैलिटीके साम्यवादी सदस्योंने गत महायुद्धके बाद इस संस्थाकी संस्थापना की थी। जिस समय इस संस्थाका संगठन किया गया था, उस समय वीयनाकी राजनीतिक और आर्थिक अवस्था बहुत ही शोचनीय हो रही थी। इस दृष्टिसे हम भारतवासियोंके लिए इस संस्थाके आदर्शका महत्व और भी अधिक है। कारण, इस प्रकारका कोई सार्वजनिक कल्याण-कार्य आरम्भ करनेपर हमारे सामने भी बहुतसी राजनीतिक और आर्थिक अड़चनें आ उपस्थित होती हैं, जिनका अतिक्रमण करना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है।

'मातृ-प्रेम'

वीयनाके शिशु-मंगल-केन्द्रमें 'मातृ-प्रेम' की द्योतक मूर्ति। यह प्रो० एन्टन हैनककी बनाई एक मूर्तिकी नक़ल है

वीयनाके इस शिशु-मंगल-प्रतिष्ठानके मूलमें समग्र जातिकी भावी उन्नति और मंगलकी आकांक्षा सन्निहित है। वीयना-म्यूनिसिपैलिटीके कार्यकर्ताओंने आरम्भमें ही इस तथ्यको हृदयंगम कर लिया था कि एक बच्चेके हिताहितके साथ केवल एक व्यक्तिके जीवन-मरणका ही सम्बन्ध नहीं है, बल्कि उसके साथ समस्त जातिका भविष्य मिला हुआ है। अतएव बच्चोंकी प्राणरक्षा करने और उन्हें स्वस्थ रखनेकी व्यवस्था करनेके लिए सारी जातिके सम्मिलित राष्ट्रीय और सामाजिक शक्ति-प्रयोगकी आवश्यकता है। इसी तथ्यको समझकर वीयना-म्यूनिसिपैलिटीने शिशु-मंगलके कार्यको अपना काम समझकर अपनाया है और इसका व्यय-भार नगरके बजटमें शामिल कर लिया है।

बच्चोंके जन्मसे पहलेका काम

वीयना-शिशु-मंगलके कार्यक्रममें शिशुके भूमिष्ठ होनेसे आरम्भ करके उसकी शिक्षा समाप्त होने तथा सांसारिक जीवनमें प्रवेश करने तक जिन-जिन बातोंकी आवश्यकता होती है, उन सबकी व्यवस्था की गई है। उसका कार्यक्रम इस प्रकार है—

१. कौन व्यक्ति संतान उत्पन्न करने योग्य है, इस विषयकी शिक्षा देना।

२. नगरकी प्रत्येक भावी जननीके सम्बन्धमें खबर रखना।

अस्पतालमें बच्चोंका 'वार्ड' : प्रबन्धकर्त्री दरवाजेपर खड़ी है
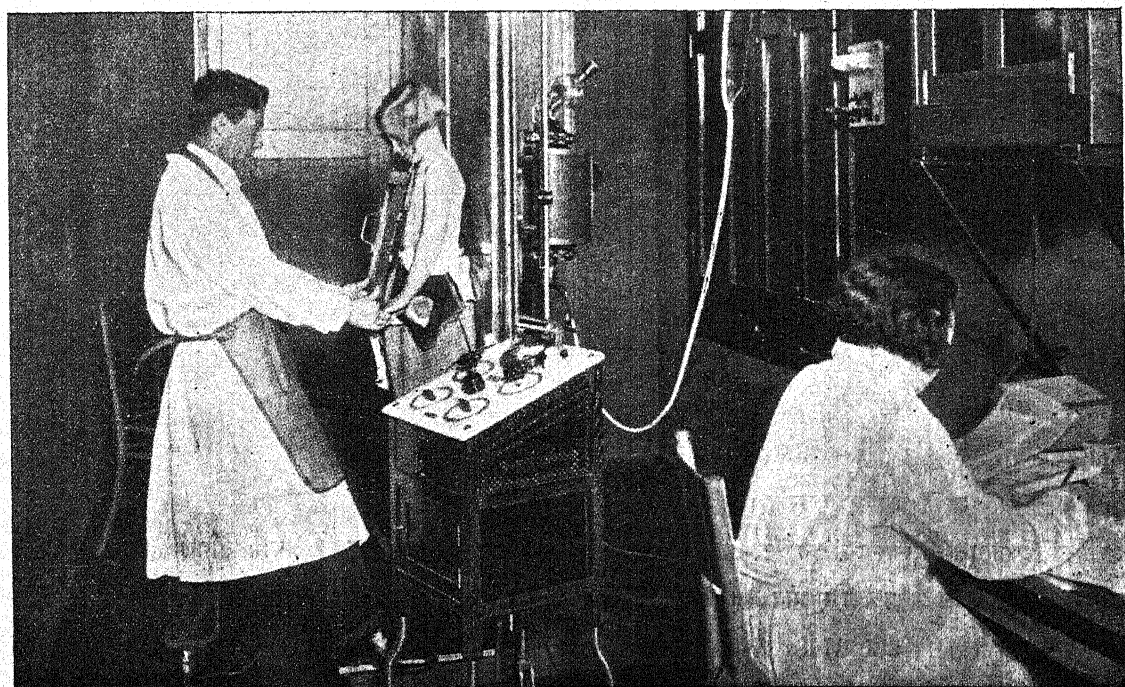
वीयनाके २० नं० के मुहल्लेके क्षयरोग-केन्द्रमें एक्सरेका कमरा

३. उन स्त्रियोंकी खोज खबर रखना और प्रयोजन होनेपर चिकित्साकी व्यवस्था करना।

नवजात बच्चोंकी सेवाशुश्रूषा

नवजात बच्चोंके स्वास्थ्यकी देखभाल करना और उनकी माताओं या दाइयोंको बच्चोंके लालन-पालनके सम्बन्धमें शिक्षा देना।

२. दूधसे पाले जानेवाले बच्चोंको रखनेके लिए स्थान, अस्पताल या आश्रम स्थापित करना।

इसके बादका काम

१. स्कूल जाने योग्य उम्रके पहले किंडरगार्टन, दिनमें रहने लायक आश्रम आदि स्थानोंमें बच्चोंकी खबरदारी रखना।

म्यूनिसिपैलिटीके बच्चोंके अस्पतालमें नन्हें बच्चे धूप ले रहे हैं

२. स्कूल जाने योग्य उम्रके बच्चोंके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके प्रति दृष्टि रखना।

३. बच्चोंके लिए खेल-कूदका स्थान, स्नानघर, आमोद-प्रमोद-गृह आदिकी व्यवस्था करना।

४ बीमार बच्चोंकी चिकित्सा करना।

स्वस्थ मातासे ही स्वस्थ संतान उत्पन्न हो सकती है, बस, यही शिशु-मंगल-अनुष्ठानका मूलमंत्र है। इसलिए बच्चेके जन्मके बादसे ही उसके प्रति यत्नशील होना उसके लिए यथेष्ट नहीं है। जन्मके साथ ही जिस रोगका आरम्भ होता है, उसकी चिकित्सा व्ययसाध्य होती है, इसलिए उपाय तो यही करना चाहिए कि जिससे वैसे बच्चे पैदा ही न हों। वीयनामें इस प्रकारका कोई क़ानून नहीं है कि जिससे संतानोत्पादनके अयोग्य मनुष्योंको बधिया या बन्ध्या बना दिया जाय, किन्तु 'Municipal Marriage Advice Bureau' नामकी एक समिति वहाँ स्थापित है, जो लोगोंको इस सम्बन्धकी शिक्षा दिया करती है।

भावी माताओंकी देखरेखके लिए वीयनामें ३४ मातृ-मंगल-आश्रम हैं। इन सब आश्रमोंमें डाक्टरी परीक्षाके उपयुक्त सभी प्रकारके साज-सामान मौजूद रहते हैं। चाहे कोई भी स्त्री इन आश्रमोंमें आकर अपने स्वास्थ्यकी परीक्षा करा सकती है। जो स्त्रियाँ इन आश्रमोंमें स्वयं नहीं आ सकतीं, स्वास्थ्य-विभागके कर्मचारी उनके घरपर जाकर उनके
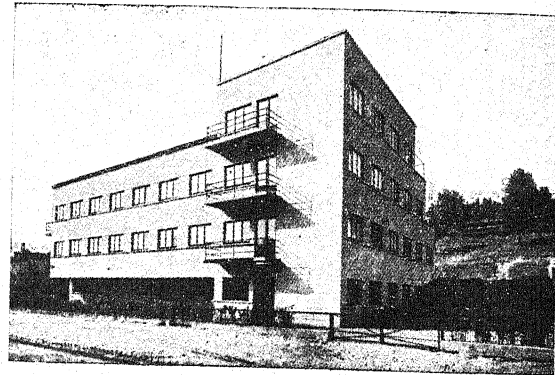
बच्चोंके रखनेका भवन

स्वास्थ्यकी परीक्षा किया करते हैं। बच्चोंके जन्मकी रजिस्टरी करनेवाला विभाग हरएक बच्चेके जन्मकी खबर शिशु-मंगल-संस्थाओंको दे देता है। फिर उनके कार्यकर्ता उन बच्चोंकी खोज-खबर लेनेके लिए निकल पड़ते हैं।

शिशु-मंगल-प्रतिष्ठानके कार्यकर्तागण किस परिमाणमें काम करते हैं, इसका अन्दाज़ इस बातसे ही भलीभाँति मिल जाता है कि सन् १९२७ में उन्होंने तेईस हज़ार बार भिन्न-भिन्न स्थानोंमें घूमकर बच्चों और माताओंकी देखभाल की थी।

म्यूनिसिपैलिटीका किंडरगार्टेन
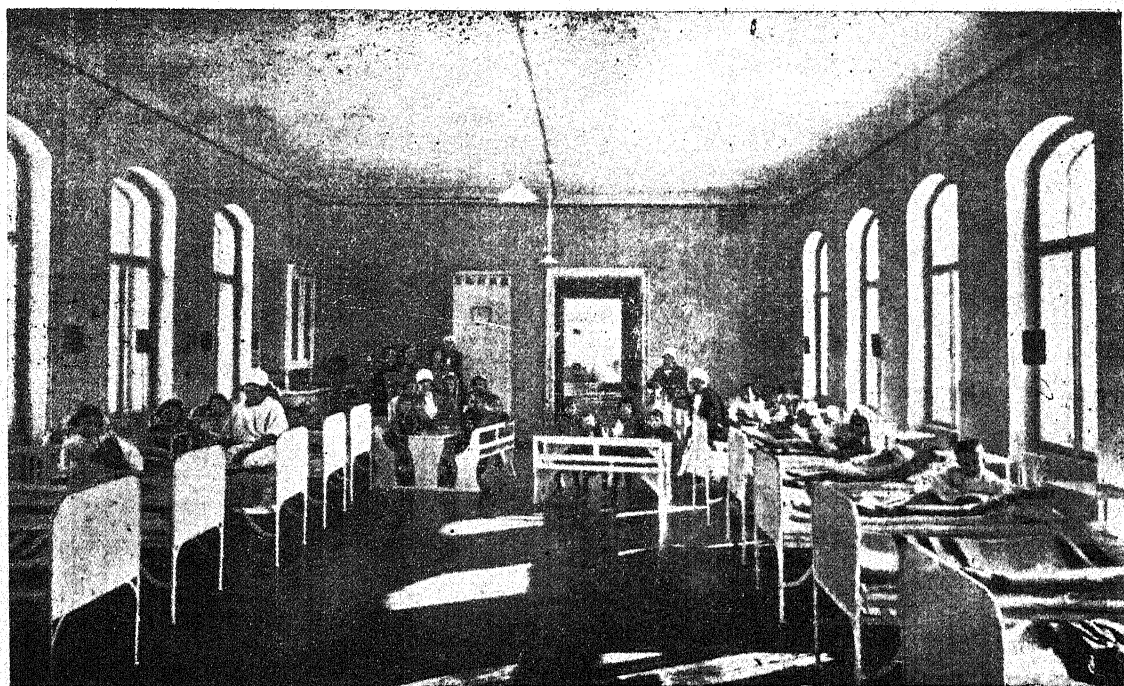
हड्डीके क्षयरोगके लिए बच्चोंका अस्पताल

बच्चोंको कृत्रिम धूप दी जा रही है
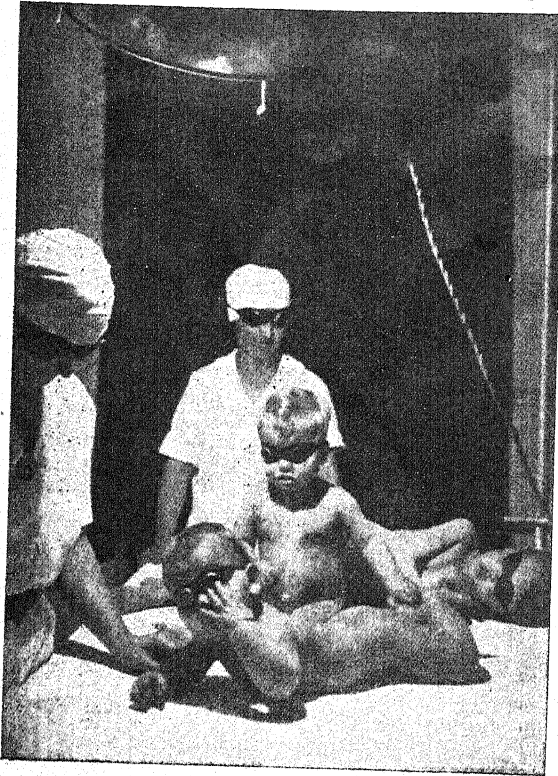
मांटेसोरी पद्धतिका बच्चोंका स्कूल। प्रधान शिक्षिका बीचमें खड़ी है

म्यूनिसिपैलिटीने आसन्नप्रसवा स्त्रियोंके लिए कितने ही अस्पताल खोल रखे हैं। वीयनाके आधेसे अधिक बच्चोंका जन्म इन्हीं अस्पतालोंमें होता है। म्यूनिसिपैलिटी सिर्फ अस्पताल खोलकर ही निश्चिन्त नहीं हो जाती। जो स्त्रियाँ सन्तान-प्रसवकालमें सरकारकी तरफसे आर्थिक सहायता नहीं प्राप्त करतीं, उन्हें म्यूनिसिपैलिटी प्रसवके बाद चार सप्ताह तक प्रतिसप्ताह १० शिलिंगके हिसाबसे सहायता दिया करती है। नवजात शिशुओंके उपयुक्त लालन-पालनके लिए उनके माता-पिताको नियमित रूपमें शिक्षा देनेके बहुतसे केन्द्र स्थापित हैं। इसके अलावा 'नगरका स्वास्थ्य-विभाग' (City Health Department) प्रत्येक प्रसूतीको उसके बच्चेके लिए एक प्रति पोशाक मुफ्त दिया करती है। सन् १९२८ में इस तरहके ग्यारह हज़ार कपड़ेके पैकेट बाँटे गये थे।

नवजात शिशुओंकी रक्षाके लिए म्यूनिसिपैलिटीकी ओरसे दो क्रैश (दूध पीनेवाले बच्चोंके रखनेका स्थान) खुले हुए हैं। इसके सिवा खानगी आदमियों द्वारा संचालित भी बहुतसे क्रैश हैं। म्यूनिसिपैलिटीकी ओरसे उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है।

बड़े-बड़े बच्चोंका भार उठानेके लिए वीयनामें १०२ किंडरगार्टन स्कूल स्थापित हैं। ये स्कूल नगरके विभिन्न विभागोंमें अवस्थित हैं। सबेरे सात बजेसे लेकर सन्ध्याके छे बजे तक ये खुले रहते हैं। माता-पिता सबेरे अपने
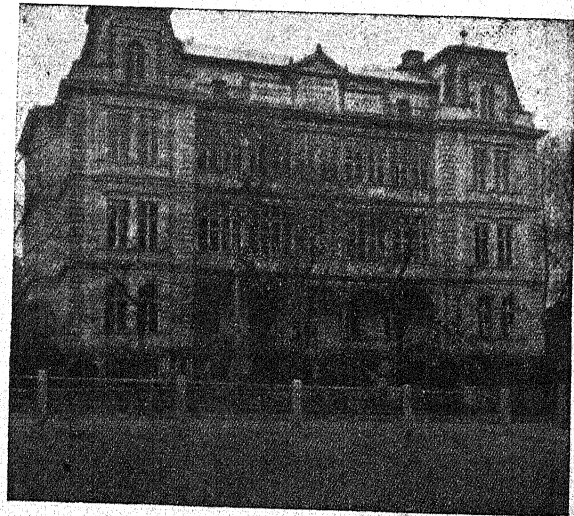
वीयनाके ३ नं० के मुहल्लेमें बच्चोंका अस्पताल

बच्चोंको यहाँ रखकर काम करने चले जाते हैं, और फिर सन्ध्या समय उन्हें घर वापस ले जाते हैं।

तीन वर्षसे लगाकर छै वर्ष तकको उम्रके बच्चे यहाँ रखे जाते हैं। छै वर्षसे अधिक उम्रके लड़कोंके लिए ३४ डे होम (Day Home) स्थापित हैं। स्कूलके लड़कोंके स्वास्थ्यकी परीक्षा हर हफ्तेमें की जाती है। पहले वर्षमें यक्ष्माके लिए प्रत्येक बालक-बालिकाकी परीक्षा विशेष रूपसे की जाती है। दाँत और आँखकी परीक्षाके लिए भी उचित व्यवस्था की गई है। म्यूनिसिपलिटीकी तरफसे बच्चोंके लिए ३१ क्रीड़ास्थल, १३ स्केटिंग रिंक (Skating Rink) और १२ स्नानघर खुले हुए हैं। इसके सिवा छुट्टीके दिनोंमें बच्चोंको शहरसे बाहर ले जानेका भी प्रबन्ध किया गया है।

चिकित्सामें खासकर यक्ष्मारोगकी चिकित्साके लिए वीयनामें विशेष रूपसे ध्यान दिया गया है। इसका कारण यह है कि यक्ष्मारोगका वीयनामें विशेष प्रकोप रहता है। म्यूनिसिपैलिटीकी ओरसे कितने ही यक्ष्मा-चिकित्सालय और यक्ष्माके रोगियोंके लिए वासस्थान बने हुए हैं। जिन परिवारोंमें यक्ष्मारोगका लक्षण पाया जाता है, वहाँसे बच्चोंको हटाकर अन्यत्र भेज दिया जाता है, जिससे उनमें रोगके कीटाणु फैलने न पावें।

इन सब बच्चोंका व्यय-भार म्यूनिसिपैलिटी अपने ऊपर लेती है। रोग-निवारणके लिए सिर्फ़ चिकित्सालय स्थापित कर देना ही पर्याप्त न समझकर म्यूनिसिपैलिटीने स्वच्छ हवादार मकानोंका निर्माण करना, स्वास्थ्यप्रद आहारकी व्यवस्था करना, छुट्टीके दिनोंमें शहरके बाहर घूमनेके लिए ले जानेकी व्यवस्था करना आदि लोकोपकारी कार्योंका भार भी अपने ऊपर ले रखा है। इस प्रकारकी उत्तम सुव्यवस्थाके परिणाम-स्वरूप नगरकी मृत्यु-संख्या बहुत कम हो गई है।

बचपन और बुढ़ापा

हर रातको सोनेके पहले बच्चे मिल-जुलकर गपशप किया करते थे। चौड़े चूल्हेके आसपास बैठकर जो मनमें आता, कहा-सुना करते थे। सन्ध्याकी लालिमा खिड़कीमें से अपने स्वप्निल नयनों द्वारा झाँका करती थी। प्रत्येक कोनेमें से ख़ामोश परछाइयाँ अनोखी कहानियोंको लेकर ऊपर उड़ा करती थीं।

जो जिसके मनमें आता, वह वही सुनाया करता था, परन्तु उनके मनमें आशा तथा प्रेमकी सुखप्रद कहानियाँ ही आया करती थीं। उन बच्चोंको सारा जीवन एक सुखमय त्यौहार जान पड़ता था। उनके लिए क्रिसमस (बड़े दिन) और ईस्टरके बीचमें कोई कष्टप्रद उपवासमय दिन थे ही नहीं। वहाँपर फूलोंवाले परदेके पीछे सम्पूर्ण जीवन मचलता, इठलाता चुपचाप प्रकाशसे निकलकर प्रकाशमें ही विलीन हो जाता था। बच्चे एक दूसरेसे कानाफूसी करते थे, शब्द ओठोंपर ही रह जाते थे, कुछ समझमें आते थे और कुछ नहीं। न किसी कहानीका कोई ओर होता था और न कोई छोर! कभी-कभी तो चारों बच्चे मिलकर एक साथ बोलते थे, पर मज़ा यह था कि एक दूसरेकी बातके समझनेमें इससे कोई बाधा नहीं पड़ती थी। एक सुन्दर स्वर्गीय प्रकाशमें ये बच्चे विस्मयसे प्रफुल्लित हो जाते थे, कोई शब्द उनके लिए क्लिष्ट नहीं था, प्रत्येक शब्द स्पष्ट और सत्य था। हर कहानी जीती-जागती आँखोंके सामने

तसवीरकी तरह खड़ी रहती थी, और प्रत्येक कहानीका अन्त सदा शानदार हुआ करता था।

बच्चोंका रूप-रंग एक दूसरेसे इतना मिलता-जुलता था कि शामकी धुँधली लालीमें सबसे छोटे चार सालके तानशेकसे लेकर दस वर्षकी लोइज़का तकमें कोई भेद नहीं मालूम होता था। सबके चेहरे लम्बे और पतले थे, आँखें बड़ी-बड़ी थीं और उनमें अन्तर्दृष्टि मानो चमकती थी।

उस रातको किसी अज्ञात स्थानसे किसी अज्ञात चीज़ने आकर उस स्वर्गीय प्रकाशपर अपनी निष्ठुर छाया डाल दी, और बड़ी बेरहमीके साथ उस क़िस्से-कहानी और छुट्टियोंके भवनको तोड़ गिराया। डाकिया चिट्ठी दे गया था, जिसमें यह ख़बर थी कि पिताजी इटलीके युद्ध-क्षेत्रमें 'मारे गये'। इस ख़बरने उन बच्चोंकी आँखोंके सामने एक अनोखी, अज्ञात और बिलकुल अज्ञेय चीज़ लाके खड़ी कर दी। न उसके कोई सिर था, न पैर, न आँख, न चेहरा, न मुँह। 'मारा जाना' यह क्या बला थी! इस चीज़का सम्बन्ध न तो गिरजाघरके सामनेके कोलाहलमय जीवनसे था, न सड़ककी बातोंसे, न चूल्हेके चारों ओरकी झुटपुटी लालिमासे, न क़िस्सोंसे और न कहानियोंसे। यह तो एक अद्भुत नवीन वस्तु थी।

हाँ, तो पिताजी इटलीके युद्ध-क्षेत्रमें 'मारे गये' थे। बच्चोंकी आँखोंके सामने यह बड़ी रहस्यमय वस्तु उपस्थित थी। इसमें ख़ुशीका तो नामोनिशान न था, और न वह विशेष रूपसे दुःखमय थी, क्योंकि वह तो मरी हुई थी। उसके कोई आँखें भी नहीं थीं, जिनसे पता लगता कि वह कहाँसे और क्यों आई है, और कोई मुँह भी नहीं था, जिससे बोलकर वह अपना रहस्य समझाती। भोलेभाले बच्चोंकी विचारशक्ति इस विशालकाय प्रेतके सामने, जो एक काली दीवारके रूपमें उपस्थित था, सहमकर ठिठक गई। वह विचारशक्ति इस दीवारके पास तक पहुँची और चुपचाप गूँगेकी तरह उसे तकने लगी।

चार वर्षके तानशेकने बड़े आश्चर्यके साथ पूछा—"तो पिताजी लौटेंगे कब?"

बहन लोइज़काने ज़रा बिगड़कर उसे कोहनीसे ढकेलते हुए कहा—"वाह! जब मारे गये, तो लौट कैसे सकते हैं?"

यह सुनकर सब सन्नाटेमें आ गये। उस विशाल काली दीवारके सामने वे खड़े थे, और उसके उस पार उन्हें कुछ भी न दीख पड़ता था।

सात सालका मतीश ज़ोरसे बोल उठा—"बस, मैं भी युद्धमें जाऊँगा!" मानो वह ठीक रायपर पहुंच गया हो और इससे अधिक कहनेकी आवश्यकता ही न हो! चार सालके तानशेकने कहा—"तुम तो अभी बहुत छोटे हो।" तानशेक स्वयं सैनिक वेशमें रहता था!

सबसे अधिक लटी और दुर्बल थी मिल्का, जो अपनी माकी भारी दुलाई ओढ़कर किसी यात्रीकी गठरी-जैसी मालूम पड़ रही थी। उसने अपनी नरम और बारीक आवाज़में पूछा, मानो वह किसी पर्देके भीतरसे बोल रही हो—"युद्ध कैसा होता है मतीश, हमें बताओ तो।"

मतीश समझाने लगा—"सुनो, युद्ध ऐसा होता है। आदमी अपने हाथमें चाकू ले लेते हैं और एक दूसरेको चाकूसे मारते हैं; तलवारसे एक दूसरेको काट डालते हैं और एक दूसरेपर बन्दूककी गोली भी चलाते हैं। जितना ही मारो-काटो, उतना ही अच्छा है, क्योंकि यही होना भी चाहिए। बस, युद्ध इसीको कहते हैं।"

मिल्का बार-बार पूछने लगी—"क्यों भैया, वे एक दूसरेको क्यों मारते-काटते हैं?"

मतीशने कहा—"सम्राट्के लिए।" यह सुनकर सब चुप हो गये।

उनकी झिलमिलाई आँखोंके आगे सुदूर धुंधलेमें

किसी बलशाली और ज्योतिर्मय वस्तुकी कीर्तिछटा दमक रही थी। वे अचल बैठे रहे। साँसको मुँहसे बाहर निकलते ही हिचकिचाहट होती थी। बिलकुल स्मशान-जैसा सन्नाटा था।

तब मतीशने अपने बिखरे हुए विचारोंको फिर जल्दीसे जमा कर लिया; सम्भवतः उस सन्नाटेको दूर करनेके लिए, जो उन सबको अखर रहा था, वह बोला—"हाँ, तो मैं भी शत्रुके विरुद्ध युद्धमें जाऊँगा।"

मिल्काने बड़ी बारीक आवाज़से एक साथ पूछा—"दादा! 'शत्रु' कैसा होता है? क्या उसके सींग होते हैं?"

तानशेकने ज़ोरदार आवाज़में और बड़ी गम्भीरतासे, जिसमें क्रोधकी भी कुछ पुट थी, कहा—"हाँ, ज़रूर सींग होते हैं। नहीं तो वह शत्रु कैसे होता?" बेचारे मतीशकी सिट्टी गुम थी, वह इस प्रश्नका ठीक उत्तर स्वयं नहीं जानता था। फिर भी बड़े धीरेसे रुक-रुककर हिचकिचाते हुए उसने कहा—"सींग, सींग तो उसके नहीं...नहीं होते होंगे।"

लोइज़काने अनिच्छापूर्वक कहा—"उसके सींग कहाँसे आये? वह भी हम जैसा ही आदमी होगा।" फिर कुछ सोचकर वह बोली—"पर हाँ, उसके आत्मा नहीं होती।"

बहुत देर तक ठहरकर तानशेकने फिर पूछा—"युद्धमें गिरकर कैसे मरते हैं? पीछेकी ओर?" अपना अर्थ समझानेके लिए उसने स्वयं गिरकर बतलाया।

मतीशने जवाब दिया—"वे उसे जानसे मार डालते हैं।"

तानशेकने कहा—"पिताजीने तो कहा था कि हम तुम्हारे लिए एक बन्दूक़ लावेंगे।"

लोइज़काने रुखाईसे कहा—"वे तो मार डाले गये, तो बन्दूक़ कहाँसे ला सकते हैं?"

"जानसे......मार डाले गये?"

"हाँ हाँ, जानसे।"

बचपनकी वे विस्मित खुली हुई आँखें चुपचाप दुःखमय दृष्टिसे अन्धकारमें देख रही थीं किसी अज्ञात वस्तुको, जिसकी कल्पना उनका हृदय और मस्तिष्क नहीं कर सकता था।

उसी समय कुटियाके बाहर एक बेंचपर बाबा और दादी बैठे हुए थे। अस्त होते हुए सूर्यकी अन्तिम लाल किरणें बग़ीचेकी घनी हरियालीपर पड़ रही थीं। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। हाँ, कभी-कभी पशु-शालाकी ओरसे रुक-रुककर हिचकियोंकी बैठी हुई आवाज़ आ रही थी। शायद वह युवती माताका करुण क्रन्दन था, जो पशुओंकी देखरेखके लिए वहाँ गई थी।

वे बुड्ढा-बुढ़िया सिर झुकाये हुए एक दूसरेसे सटकर बैठे हुए थे। एकका हाथ दूसरेके हाथमें था। बहुत दिनोंसे उन्होंने ऐसा नहीं किया था। गोधूलिकी स्वर्गीय आभाको वे अश्रुविहीन नेत्रोंसे देख रहे थे। वे चुपचाप थे।*

अनुवादक, मख्तरहुसेन रायपुरी

* स्लोवेनियन लेखक आइवन केंकरकी एक कहानीका अनुवाद।

विश्व-छबि

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'

मैं तुम्हें खींचता हूँ, पल-पल तू और फँसा-सा जाता है।
मन जिसे समझता तू सुन्दर उस जगसे कबका नाता है!
कुछ विस्तृत-सा परिचय है क्या जिससे बढ़ता है प्यार?
कण-कणमें कौन छिपा अपना जो मुझको रहा पुकार?

मधुर कैसी है यह नगरी!
धन्य री, जगती पुलक-भरी!

निराशाकी पलकोंको खोल
तनिक देखो तो इसकी ओर;
बहा-सा बेहोशीमें कहाँ
चला जाता यह विश्व-विभोर?

मधुरताकी बूँदोंसे सिक्त
सिहरता रह-रह जगत पुनीत;
विश्व है मादकताका स्रोत
विश्व है एक सरस संगीत।

चन्द्रिका-पटका कर परिधान
सजा नक्षत्रोंसे शृंगार;
प्रकृति पुलकाकुल आँखें खोल
देखती निज सुवर्ण-संसार।

चमकते तरुपर झिलमिल फूल
बौर जाता है कभी रसाल;
अंकमें लेकर नीलाकाश
कभी दर्पण बन जाता ताल।

चहकती चित्रित मैना कहीं,
कहीं उड़ती कुसुमोंकी धूल;
चपल तितली सुकुमारी कहीं
दीखती फुदक रहे ज्यों फूल।

हरे वनके कंठोंमें कहीं
स्रोत बन जाते उज्वल हार;

पिघलकर चाँदी ही बन गई
कहीं नदियोंकी झिलमिल धार।

उतरती हरे खेतमें इधर
खींचकर सन्ध्या स्वर्ण-दुकूल;
व्योमकी नील वाटिका बीच
उधर हँस पड़ते अगणित फूल।

वन्य-तृण भी तो पुलक विभोर
पवनमें झूम रहे स्वच्छन्द;
प्रकृतिके अंग-अंगसे अरे!
फूटता है कितना आनन्द?

देख मादक जगतीकी ओर
झनकते हृत्तन्त्रीके तार;
उमड़ पड़ते उरके उच्छ्वास,
धन्य! स्रष्टा तेरा व्यापार।

स्रष्टा धन्य, विविध सुमनोंसे सजी धन्य यह फुलवारी;
पा सकती क्या इन्द्रपुरीमें भी आँखें यह छबि प्यारी।

फूलोंकी क्या बात? बाँसकी हरियाली पर मरता हूँ;
अरी दूब! तेरे चलते जगतीका आदर करता हूँ।

किसी लोभसे इसे छोड़ दूँ, यह जग ऐसा स्थान नहीं;
और बात क्या? बहुधा मैं चाहता मुक्ति-वरदान नहीं।

इस उपवनकी ओर न जाऊँ, ऐसी मुक्ति न मैं लूँगा;
अपनेपर कृतघ्नताका अपराध न लगने मैं दूँगा।

इच्छा है, सौ-सौ जीवन पा इस भूतलपर जाऊँ मैं;
घनी पत्तियोंकी हरियालीसे निज नयन जुड़ाऊँ मैं।

तरुके नीचे बैठ सुमनकी सरस प्रशंसा गाऊँ मैं;
नक्षत्रोंमें हँसूँ, ओसमें रोऊँ और रुलाऊँ मैं।

मेरे काव्य-कुसुमसे जगका हराभरा उद्यान बने;
मेरी मृदु कविता भावुक परियोंका कोमल गान बने।

विधिसे रंजित पंख माँग मैं उड़-उड़ व्योम-विहार करूँ ;
गगनांगनके बिखरे मोतीसे माला तैयार करूँ।
किसी बाल-युवतीकी ग्रीवामें वह हार पिन्हाऊँ मैं ;
हरी दूबपर, चन्द्र-किरणमें, सम्मुख उसे बिठाऊँ मैं।
श्वेत, पीत, बैंगनी कुसुमसे मैं उसका शृंगार करूँ ;
कविता रचूँ, सुनाऊँ, उसको हृदय लगाऊँ, प्यार करूँ।
मलयानिल बन नव गुलाबकी मादक सुरभि चुराऊँ मैं ;
विधुका बन प्रतिबिम्ब सरितके उर भीतर छिप जाऊँ मैं।
किरण-हिंडोरेपर चढ़कर मैं बढ़ूँ कभी इस नभकी ओर ;
करूँ कभी प्लावित वन-उपवन बन खगकी स्वर-सरित-हिलोर।
इच्छा है, मैं बार-बार कविका जीवन लेकर आऊँ ;
अपनी प्रतिभाके प्रदीपसे जगकी अमा मिटा जाऊँ।
नाथ ! मुझे भावुकता-प्रतिभाका प्यारा वरदान मिले ;
हरी तलहटीकी गोदीमें सुन्दर वास-स्थान मिले।
उधर झरे भावुक पर्वतके उरसे झरना सुकुमारी ;
सहस्र-श्रोतमें इधर हृदयसे फूट पड़े कविता प्यारी।
कुसुमोंकी मुसकान देखकर,
उज्वल स्वर्ण-विहान देखकर ;
थिरक उठे यह हृदय मुग्ध हो, बरस पड़े आनन्द ;
अचानक गूँज उठे मृदु छन्द—
'मधुर कैसी है यह नगरी !
धन्य री, जगती पुलक-भरी !'

अमेरिकाके गांधी—गैरिसन

श्री ब्योहार राजेन्द्रसिंह

आज जो अहिंसात्मक क्रान्ति भारतमें ब्रिटिश सत्ताको हिलाये डाल रही है, जो अहिंसात्मक क्रान्ति पाश्चात्य जगत्को नवजीवन एवं सदाचारकी प्रचण्ड शक्तिसे प्रभावित कर रही है, लक्षणोंसे प्रतीत होता है कि वही अहिंसात्मक क्रान्ति एक दिन संसारसे हिंसात्मक पशुबलको नेस्तनाबूद कर देगी। एक बार फिर 'लिबरेटर'*की भविष्यवाणी सिद्ध होगी। "हैनरी रायमैण्ड लायड।"

महापुरुष और महात्मा किसी एक देशमें ही उत्पन्न नहीं होते। समय-समयपर भिन्न-भिन्न देशोंमें ऐसी आत्माएँ अवतीर्ण होती हैं, जो मानव-जातिका उद्धार करती हैं तथा जिनके कारण उन देशोंकी कीर्ति संसारके इतिहासमें चिरस्थायी हो जाती है। विलियम लायड गैरिसनकी गणना भी ऐसे ही महापुरुषोंमें की जानी चाहिए। गैरिसनका निम्न-लिखित वाक्य पत्रकार-कलाके इतिहासमें अमर हो गया है—

"I am in earnest—I will not equivocate—I will not excuse—I will not retreat a single inch—And I will be heard."

अर्थात्—'मैं सच कहता हूँ, मैंने अब ठान ली है—मैं दुबिधाजनक दो अर्थवाली बात नहीं कहूँगा—मैं क्षमा नहीं करूँगा—मैं एक इंच भी पीछे नहीं हटूँगा और आखिर मेरी बात सुननी ही पड़ेगी।'

हिंसाका जवाब हिंसासे न देकर प्रेमसे देनेके सिद्धान्तको मानव-जीवनका अंग बनानेकी घोषणा अमेरिकामें सर्वप्रथम गैरिसनने ही की थी। टाल्सटायने जनवरी सन् १६०४ में गैरिसनके एक जीवन-चरितकी भूमिकामें लिखा था—

"Garrison was the first to proclaim this principle of non-resistance as a rule for the organisation of the life of men. In this is his great merit. If at the time he did not attain the pacific liberation of the slaves in America, he indicated the way of liberating men in general from the power of brute force.

---
* गैरिसन द्वारा स्थापित पत्रका नाम

Therefore Garrison will forever remain one of the greatest reformers and promoters of true human progress."

अर्थात्—'गैरिसनकी ख़ूबी इसीमें है कि उन्होंने ही सबसे पहले इस बातकी घोषणा की थी कि मानव-जीवनके संचालनमें हिंसाका जवाब अहिंसासे देनेके सिद्धान्तका प्रयोग किया जाना चाहिए। यद्यपि उस समय वे अहिंसात्मक उपायोंसे अमेरिकाके गुलामोंका छुटकारा न करा सके, तथापि उन्होंने पाशविक शक्तिके पंजेसे मनुष्योंके छुटकारेका उपाय बतला दिया। इसीलिए मानव-समाजकी सच्ची उन्नति करनेवालों तथा सर्वश्रेष्ठ सुधारकोंमें उनकी भी गणना सदा की जाया करेगी।'

गैरिसनका जन्म १० दिसम्बर सन् १८०५ को अमेरिकाके न्यूबरीपोर्ट नामक नगरमें हुआ था। उनके पिता एक जहाज़पर कप्तानीका काम करते थे, और उन्हें प्रायः घरसे बाहर रहना पड़ता था। उनकी मृत्यु कहाँ और किस प्रकार हुई, इसका कुछ भी पता नहीं चलता। गैरिसनका लालन-पालन उनकी माताने ही किया था। माताजी बड़ी सच्चरित्रा, धार्मिक और दयालु थीं। उन्होंने गैरिसनको सात-आठ वर्षकी उम्रमें जूते बनानेका काम सीखनेके लिए एक चर्मकारके पास रख दिया; पर इस काममें गैरिसनका मन नहीं लगा, इसलिए उन्हें बढ़ईगीरीका काम सीखनेके लिए दूसरी जगह रखना पड़ा। यह कार्य भी गैरिसनकी प्रकृतिके अनुकूल नहीं था। आखिरकार १४ वर्षकी उम्रमें उन्होंने न्यूबरीपोर्टसे निकलनेवाले 'हेराल्ड' नामक पत्रमें कम्पोज़ीटरीका काम सीखना शुरू किया। थोड़े ही दिनोंमें वे एक अत्यन्त कुशल कम्पोज़ीटर बन गये। 'हेराल्ड' में ही उन्होंने गुमनाम लेख भेजना प्रारम्भ किया और उसके सम्पादक बड़े चावसे उनके लेखोंको छापने लगे, पर सम्पादक महोदयको स्वप्नमें भी इसका खयाल नहीं था कि उन लेखोंको लिखनेवाला उन्हींके पत्रका कोई कम्पोज़ीटर है! गैरिसनने 'सालेम गज़ट'में एक योग्यतापूर्ण राजनैतिक निबन्धमाला लिखी, जिसे उद्धृत करते हुए एक प्रख्यात पत्रने लिखा कि यह लेखमाला सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ आनरेबिल टिमाथी पिकरिंग साहबकी लिखी हुई मालूम होती है! गैरिसनने कम्पोज़ीटरीका काम इतनी योग्यतापूर्वक किया कि वे फोरमैन बना दिये गये, और सम्पादक महोदय उनकी योग्यताके इतने अधिक क़ायल हुए कि जब वे स्वयं छुट्टीपर गये, तो पत्रका काम गैरिसनको सौंपते गये।

सन् १८२६ में उन्होंने अपना एक स्वतंत्र पत्र निकाला, जिसका नाम 'फ्री प्रेस' (Free Press) रखा गया। उन्हीं दिनों मि॰ बैंजमिन लन्दी नामक एक सज्जन गुलामीकी प्रथाके विरुद्ध एक मासिक पत्र 'The Genius of Universal Emancipation' निकाल रहे थे। गैरिसनसे उनकी मुलाक़ात हुई। गैरिसनकी योग्यता और उत्साहपर वे मुग्ध हो गये। मि॰ लन्दी घोर शीतके दिनोंमें १२५ मील पैदल चलकर गैरिसनके पास पहुँचे! गैरिसन उनके प्रेमसे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने लन्दीके साथ काम करना स्वीकार कर लिया, और यह वचन भी दे दिया कि अब हम अपना समय गुलामीकी प्रथाको जड़मूलसे नष्ट करनेमें लगावेंगे।

सन् १८२९ में वे मि॰ लन्दीके साथ उनके पत्रके संयुक्त सम्पादक बन गये। एक प्रश्नपर दोनों सम्पादकोंका मतभेद था, वह यह कि लन्दी महोदय धीरे-धीरे गुलामीकी प्रथाके उठानेके पक्षमें थे और गैरिसन बिना विलम्ब एक साथ ही उसको उच्छेद करनेके पक्षपाती थे। कुछ गुलाम एक जहाज़ द्वारा बाल्टीमोर नामक स्थानसे न्यूआरलियन्सको भेजे जा रहे थे। गैरिसनने इस कार्यको 'घरेलू डकैती' बतलाया, और इस बातकी धमकी दी कि जो आदमी इस पापकर्ममें लगे हुए हैं, उनके नाम देकर कलंक-कालिमासे हम उनका मुँह काला करेंगे। इससे क्रुद्ध होकर उस जहाज़के मालिकने गैरिसनपर मानहानिकी नालिश कर दी। उनपर ५० डालर जुर्माना देने अथवा जेलका हुक्म हुआ। उन्होंने जुर्माना नहीं दिया और जेल जाना स्वीकार किया। जेलमें उन्होंने दो-तीन

कविताएँ लिखीं, जो जनताको बहुत पसन्द आई। कुछ दिनों बाद न्यूयार्कके किसी व्यापारीने उनका जुर्माना भर दिया और वे जेलसे छोड़ दिये गये।

१ जनवरी सन् १८३१ को बिना किसी पूँजीके उन्होंने 'लिबरेटर' नामक पत्रका प्रथम अंक निकाला। इस अंकमें आपने लिखा था—"जब तक हम लोगोंको सूखी रोटी खानेको और पानी पीनेको मिलता रहेगा और जब तक हमारे हाथ-पाँव काम-काज करने लायक़ रहेंगे, तब तक हम इस पत्रको प्रकाशित करते रहेंगे।" इस पत्रका मोटो था—"Our country is the world—our countrymen are mankind"—अर्थात्, 'समस्त संसार ही हमारा देश है, और मनुष्यमात्र हमारे देशभाई।'

'लिबरेटर' धीरे-धीरे लोकप्रिय होने लगा, पर उसे सफल बनानेके लिए स्वयं सम्पादक महोदयको एक अन्धकारमय और बिना सजी हुई छोटी कोठरीमें, जहाँसे वह पत्र निकलता था, सोना पड़ता था। आगे चलकर यह पत्र खूब प्रभावशाली बन गया, और उसे प्रेसीडेन्ट लिंकनकी उस घोषणाको छापनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसमें गुलामीकी प्रथाके बन्द करनेका विवरण था। गैरिसनने अपने पत्र 'लिबरेटर' द्वारा उस प्रबल आन्दोलनका सूत्रपात किया, जो थोड़े दिनोंमें ही सम्पूर्ण देशमें व्याप्त हो गया।

सन् १८३३ में जब उनकी उम्र केवल २७ वर्षकी थी, गैरिसनने इंग्लैण्डकी यात्रा की और वहाँ गुलामीकी प्रथाके विरोधी विशेष-विशेष व्यक्तियों द्वारा उनका खूब सम्मान हुआ। गैरिसनकी लड़कीने इस सम्बन्धमें एक बड़ी मनोरंजक घटना लिखी है—

"लन्दन पहुँचनेपर गैरिसनको सर फोवेल बक्सटनने, जिन्होंने गुलामीकी प्रथाके विरुद्ध विलायतमें बहुत-कुछ आन्दोलन किया था, अपने यहाँ निमन्त्रित किया। गैरिसनने यह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और निश्चित समयपर बक्सटन साहबके घरपर गये। जब गैरिसन वहाँ पहुँचे, तो बक्सटन साहब कुछ चकराये और बोले—

'Have I the pleasure of addressing Mr. Garrison of Boston in the United States?'

अर्थात्—'क्या मुझे संयुक्त-राज्य अमेरिकाके बोस्टन नगरके निवासी मि० गैरिसनसे मिलनेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा है?'

मि० गैरिसनने जवाब दिया—

'Yes, Sir, I am he and am here in accordance with your invitation.'

अर्थात्—'हाँ, जनाब, मैं ही हूँ और आपका निमंत्रण पाकर यहाँ हाज़िर हुआ हूँ।'

यह सुनकर बक्सटन साहब दंग रह गये, और बोले—

'Why, my dear sir, I thought that you were a black man!'

अर्थात्—'अच्छा, मैं तो समझता था कि आप कोई काले आदमी या नीग्रो होंगे!'"

गैरिसन कहा करते थे—"यद्यपि अनेक लोगोंसे मुझे बड़ी-बड़ी प्रशंसाएँ प्राप्त हुई हैं, पर उनको स्मरण रखने या दूसरोंको सुनानेकी परवाह मैंने कभी न की, पर इस प्रशंसाको मैं नहीं भूल सकता। न जाने कैसे यह बात मि० बक्सटनके दिमाग़में जम गई थी कि कोई भी गोरा अमेरिकन उस लगनके साथ काले दासोंके लिए काम नहीं कर सकता था, जैसा कि मैंने किया था, और इसीलिए वे मुझे हबशी समझ बैठे थे!"

सन् १८६४ में स्वयं प्रेसीडेन्ट लिंकनने गैरिसनसे कहा था—"यदि आप और आपके साथी लोग अपने कार्य द्वारा साधारण जनताके भावोंको तैयार न कर देते, तो मैं दासोंकी मुक्तिका घोषणापत्र अपने हाथोंसे कदापि न लिख पाता, क्योंकि मुझे तो साधारण जनताके भावोंपर ही भरोसा था।"

पर दासत्व प्रथाको बन्द करानेके लिए गैरिसनको जो घोर परिश्रम करना पड़ा और जिन-जिन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा, उनकी कथा अत्यन्त उपदेशप्रद है। एक बार तो दासत्व प्रथाके पाँच हज़ार पक्षपातियोंने उनको

क़रीब-क़रीब नंगा करके और कमरमें रस्सी डालकर बोस्टनकी सड़कोंपर घसीटा ! यह घटना २१ अक्टूबर सन् १८३५ को घटी थी। गुलामीकी प्रथाके विरोधी जार्ज थामसनसे, जो उन दिनों बोस्टनमें ही थे, वहाँकी जनता बड़ी नाराज़ थी और उनको अच्छी तरह पीटनेका निश्चय कर चुकी थी। जब गैरिसनको यह खबर मालूम हुई, तो उन्होंने थामसनसे कहा कि आप यहाँसे चले जाइये, और उन्हें उस नगरसे बाहर भेज दिया। जब पाँच हज़ार धनी और प्रतिष्ठित महानुभाव (5000 gentleman of property and standing) थामसनकी तलाश करते हुए वहाँ पहुँचे और उन्हें वहाँ न पाकर बड़े झुँझलाये। फिर उनको पता लगा कि गैरिसन स्त्रियोंकी एक दासत्व प्रथा-निवारिणी सभामें भाषण दे रहे हैं। गैरिसनसे लोगोंने कहा भी था कि आप भाषण न दीजिए, नहीं तो आपकी जान खतरेमें पड़ जायगी, पर उन्होंने इसकी कुछ भी चिन्ता न की। गैरिसनसे वे और भी अधिक नाराज़ थे, क्योंकि उन्हें वे तमाम आन्दोलनकी जड़ समझते थे। बस, उन्होंने उस स्थानको, जहाँ गैरिसनका भाषण हो रहा था, जा घेरा। उस घटनाके विषयमें स्वयं गैरिसनने लिखा था—

"जब चारों ओर होहल्ला हो रहा था, एक भाई, जो दासत्व प्रथाके विरोधी थे, पर जिनके मनमें अभी इस बातका ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया था कि गुलामीकी प्रथाको दूर करनेके लिए शान्तिपूर्ण उपायोंसे काम लेना चाहिए अथवा हथियारोंका भी प्रयोग करना चाहिए, घबड़ा गये। उन्हें इस बातकी चिन्तासे बड़ा दुःख हुआ कि मेरी (गैरिसनकी) जान अब कैसे बचेगी, और साथ ही नगरके शासकोंकी लाचारीपर भी उन्हें क्रोध आया। क्रोध तथा दुःखसे भरे हुए वे बोले—'अब आजसे मैं हिंसाका विरोध शान्तिसे करनेके सिद्धान्तको तिलांजलि देता हूँ। जब शासक हमारी रक्षा करनेमें असमर्थ प्रतीत होते हैं, मेरे निजके अधिकार पददलित करके धूलमें मिलाये जाते हैं तथा गुंडोंसे मेरे मित्रोंके जीवन खतरेमें पड़ जाते हैं, तो मेरा यह कर्तव्य है कि मैं चाहे जिस तरह हो, शस्त्रों द्वारा रक्षाके लिए उद्यत रहूँ।' मैंने अपने मित्रके कंधेपर हाथ रखकर कहा—'मेरे प्यारे भाई सावधान! तुम नहीं जानते कि तुममें कितनी शक्ति है। यही संकट तो हमारे विश्वास तथा हमारी सहनशीलताकी कसौटी है। हमारे शान्ति तथा क्षमाके सिद्धान्त किस कामके, यदि हम संकट तथा खतरेके वक्त उनको छोड़ दें? क्या तुम उन हिंसात्मक तथा ख़ूनके प्यासे आदमियोंके समान बनना चाहते हो, जो मेरी जान लेनेके लिए बाहर इकट्ठे हैं? क्या हम घूँसेका जवाब घूँसेसे देंगे और तलवारके मुक़ाबलेमें तलवार उठावेंगे? परमात्मा ऐसा न करे! मैं खुद मर जाना कहीं अधिक पसन्द करूँगा, बनिस्वत इसके कि अपना हाथ अपनी रक्षाके लिए भी किसी आदमीपर उठाऊँ। मैं यह हर्गिज़ नहीं चाहता कि कोई भी आदमी मुझे बचानेके लिए हिंसाका आश्रय ले। अगर ये लोग मेरी जान ले भी लेंगे, तो भी गुलामोंकी स्वाधीनताका कार्य रुकनेवाला नहीं है। परमात्मा हम सबपर शासन करता है और इस तूफ़ानसे उसका आसन विचलित नहीं हो सकता। अन्तमें उसी सर्वशक्तिशालीके सिद्धान्तकी विजय होगी।'"

यदि गैरिसनकी रक्षाके लिए अस्त्रोंका प्रयोग किया गया होता, तो अवश्य ही उनकी जान जाती। उन आदमियोंने जब अहिंसाव्रती गैरिसनको पकड़ लिया, तो फिर उनकी कमरमें रस्सी बाँधकर उनको बोस्टनकी सड़कोंपर ख़ूब घसीटा! उनका विचार अन्तमें गैरिसनको मार डालनेका था, पर इतनेमें बोस्टनके मेयर पुलिस लेकर वहाँ पहुँच गये, और उन्होंने गैरिसनके प्राण बचाये। घटनास्थलके प्रत्यक्षदर्शियोंने यह बात कही थी कि उस संकटके समयमें भी, जब वे घसीटे जा रहे थे, गैरिसनके चेहरेपर अशान्तिका नामोनिशान भी नहीं था!

अहिंसाके प्रेमी गैरिसन

आजसे ६३ वर्ष पहले ३० अगस्त सन् १८३८ को गैरिसनने अपने एक मित्रको शान्ति-परिषदके विषयमें, जो उसी वर्ष १८—२० सितम्बरको होनेवाली थी, लिखा था—

"परिषद्में एकत्रित प्रतिनिधियोंके बहुमतसे वर्तमान फौजी पद्धति तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली हानिकारक और बेहूदी प्रथाओंकी निन्दाका प्रस्ताव पास करानेमें विशेष कठिनाई न होगी। मेरा खयाल है कि वे आत्मरक्षाके लिए अथवा दूसरोंपर आक्रमण करनेके लिए किये गये युद्धोंकी भी घोर निन्दा करेंगे, लेकिन मुझे शक है कि इतनी आसानीके साथ वे मानव-जीवनको अक्षत बनाये रखनेके सिद्धान्तसे सहमत न होंगे। इस बातको माननेके लिए बहुत-कम आदमी तैयार होंगे कि ईसाई मतके अनुसार दुष्टोंको भी दंड देनेके लिए शारीरिक शक्तिका प्रयोग करना वर्जित है, लेकिन मेरी समझमें तो यह बात बिलकुल स्पष्ट है, और यह मेरे हृद्गत भावोंके अनुकूल भी है······जो लोग हमारे साथ घृणाका बर्ताव करें, उनके लिए हमें प्रार्थना करनी चाहिए। इस आदेशकी उत्तमता तथा उच्चताको मैं अनुभव करता हूँ, और साथ ही मुझे वह आदेश भी बहुत ऊँचे दर्जेका मालूम होता है कि जो आदमी तेरे एक गालपर एक तमाचा मारे, उसके सामने तू दूसरा गाल भी कर दे······पाशविक बलका प्रयोग करते हुए लड़नेमें हम अपनी आत्माओंका पतन करते हैं। दुष्टोंको न्यायालयोंसे दंड दिलवाना अथवा कमज़ोरोंकी रक्षाके लिए और उनपर किये गये अत्याचारोंका बदला लेनेके लिए सिपाहियोंके समूहका प्रयोग करना, सुननेमें तो बड़ा आकर्षक मालूम होता है, पर मेरे कानोंको उसकी ध्वनि खोखली प्रतीत होती है।"

शान्ति-परिषद्में जो घोषणापत्र निकाला गया था वह भी गैरिसनका ही लिखा हुआ था। उसके निम्न-लिखित वाक्य स्वर्णाक्षरोंमें लिखे जाने योग्य हैं—

"Our country is the world, our countrymen are all mankind. We love the land of our nativity only as we love all other lands. The interests, rights, liberties of American citizens are no more dear to us than are those of the whole human race. Hence, we can allow no appeal to patriotism, to revenge any national insult or injury. The Prince of Peace, under whose stainless banner we rally, came not to destory, but to save, even the worst of enemies."

अर्थात्—'समस्त संसार ही हमारा देश है और सम्पूर्ण मानव-जाति हमारे देशबन्धु, और जितना प्रेम हमारे हृदयमें अपनी जन्मभूमिके प्रति है, उतना ही दूसरे देशोंके प्रति भी। अमेरिकाके नागरिकोंके हित, अधिकार तथा स्वतन्त्रतासे हमें जितना प्रेम है, उतना ही प्रेम हमारे हृदयमें समस्त मानव-जातिके प्रति है। हमारे राष्ट्रका अपमान अथवा हानि होनेपर देशभक्तिके नामपर कोई हमें बदला लेनेके लिए उत्तजित करना चाहे, तो हम उत्तेजित नहीं होंगे। शान्तिके जिस सम्राट् (प्रभु ईसा मसीह) के निष्कलंक झंडेके नीचे हम लोग एकत्रित हुए हैं, वह अपने बुरे-से-बुरे शत्रुओं तकको नष्ट करनेके लिए नहीं, बल्कि बचानेके लिए आया था।'

इस घोषणापत्रमें आगे चलकर लिखा था—"मानव-समाजके इतिहाससे इस बातके बहुतसे प्रमाण मिल सकते हैं कि नैतिक उद्धारके लिए शारीरिक बलका प्रयोग उपयुक्त नहीं है। मनुष्योंकी पापमय प्रवृत्तियाँ केवल प्रेमसे ही वशमें की जा सकती हैं, संसारसे बुराईको दूर करनेका केवल एक ही मार्ग है—यानी भलाई करना। इस अस्थि-चर्मसे बनी हुई भुजाके भरोसे अथवा क्षणभंगुर मनुष्यके बलकी आशापर अपनी रक्षाका विश्वास करना ठीक नहीं, बल्कि नम्र, अहिंसक, सहनशील तथा दयापूर्ण होनेमें ही हमारी रक्षाका सबसे बड़ा भरोसा है। अन्तमें नम्र आदमी ही संसारके स्वामी होंगे, क्योंकि जो तलवारका सहारा लेते हैं, जो हिंसक हैं, वे तलवारके द्वारा ही नष्ट होंगे, इसीलिए हम अहिंसाके सिद्धान्तको अपने हृदयसे स्वीकार करते हैं, क्योंकि हमारा यह विश्वास है कि यह सिद्धान्त नीतिकी दृष्टिसे बिलकुल पक्का है। जमीन-ज़ायदादकी रक्षाकी दृष्टिसे, जीवन तथा स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिए, सार्वजनिक शान्तिके लिए और व्यक्तिगत सुखके लिए भी हम अहिंसाके सिद्धान्तको उपयोगी

समझते हैं, और उस परमात्माके नामपर, जो राजाओंका राजा तथा सम्राटोंका सम्राट् है, हम इस सिद्धान्तको स्वीकार करते हैं। हमारा विश्वास है कि सभी अवसरोंपर इस सिद्धान्तके प्रयोगका सुभीता है। यह सिद्धान्त सर्वशक्तिमान है, और यह अपनेपर आक्रमण करनेवाली प्रत्येक शक्तिपर अन्तमें विजय प्राप्त करेगा। यदि हम अपने सिद्धान्तके पक्के हों, तो फिर यह हमारे लिए असम्भव होगा कि हम कोई दंगा करें, देशद्रोहके लिए षड्यन्त्र रचें अथवा किसी निन्दनीय कार्यमें भाग लें। उन क़ानूनोंको छोड़कर, जो हमारे धर्मशास्त्रके विरुद्ध हैं, हम सब सरकारी क़ानूनोंको मानेंगे, क़ानूनोंको अपना काम करने देनेमें हम बाधक न होंगे और धर्मविरुद्ध क़ानूनोंको तोड़कर उनकी सज़ा नम्रता-पूर्वक स्वीकार करेंगे।"

आजसे ९३ वर्ष पहले लिखे गये गैरिसनके इन वाक्योंमें तथा महात्माजीकी वाणीमें कितना अधिक साम्य है!

जनवरी सन् १८३९ से लेकर जून सन् १८४२ तक उन्होंने 'Non-resistant' नामक एक पत्र भी निकाला था, पर आर्थिक संकटके कारण यह पत्र बन्द कर देना पड़ा।

धार्मिक स्वतंत्रताके अभिनेता

गैरिसन न केवल गुलामोंकी स्वतंत्रताके पक्षपाती थे, बल्कि उनका शुभ नाम अमेरिकाके धार्मिक स्वतंत्रताके इतिहासमें भी अमर रहेगा। वे सच्चे धार्मिक थे। पुरातन शास्त्रीय धार्मिक संकीर्णतासे दूर रहते हुए उन्होंने अपने निकटस्थ मित्रोंको आगे बढ़ाया, और समय आनेपर उसी मित्रमंडलीमें से उन्हें अपने कट्टर अनुयायी भी मिले। पापमय दासत्व प्रथाका विरोध करनेसे इनकार करनेपर उन्होंने गिरजाघरोंका तीव्र विरोध किया। फलत: धर्मान्ध पादरियोंने उनकी भी भर्त्सना की और उन्हें 'नास्तिक' कहने लगे। गैरिसन तथा उनके मित्रोंके विषयमें न्यूयार्कके 'इन्डिपेन्डेन्ट' ने सन् १८५६ के एक अंकमें लिखा था—

"वह नीच, अविश्वासी तथा नास्तिकोंकी टोली है।"

जब गैरिसनकी लड़की फेनी स्कूलमें पढ़ने जाती थी, तो अन्य लड़के-लड़कियाँ उसे नास्तिककी छोकरी कहके चिढ़ाया करती थीं! एक बार किसीने फेनीसे स्कूलमें पूछा—"क्या तुमने बप्तिस्मा लिया है?" वह बेचारी इस सवालको न समझ सकी, और उसने आकर गैरिसनसे यह बात पूछी। इसपर गैरिसनने जवाब दिया—"No, my darling, you have a good bath every morning and that is a great deal better."

अर्थात्—'नहीं, मेरी प्यारी बेटी, तुम तो सवेरे नित्य स्नान करती हो, और यह बप्तिस्मा लेनेकी अपेक्षा कहीं अच्छा है।"

स्त्री-सुधार

गैरिसनने स्त्रियोंके लिए भी जो कार्य किये, वे किसीसे छिपे नहीं हैं। स्त्रियोंके प्रकृतिदत्त अधिकारों और राजनैतिक क्षेत्रसे दूर रखने तथा अयोग्य समझनेकी नीतिपर गैरिसन-जैसे उदार व्यक्तिका ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। उन्होंने न केवल शब्दोंसे, बल्कि कार्योंसे भी स्त्रियोंको उचित अधिकार दिलानेकी घोषणा की। जब स्त्रियोंका आन्दोलन चल रहा था, तब 'लिबरेटर' ने ही अपने तेरह सफल अंकोंमें इस आन्दोलनके समर्थक एंजिलिना ग्रिमकेके पत्र प्रकाशित किये। सन् १८३८ के प्रथम अंकमें मि० गैरिसनने यह घोषणा की—"हमारा उद्देश्य संसारको स्वतन्त्र करना है। पुरुषों और स्त्रियोंमें ऊँच-नीचका भेद-भाव मिटानेके लिए हम "स्त्रियोंके अधिकारों' के लिए लड़ेंगे।" अपने मित्रोंके विरोधकी चिन्ता न करते हुए भी उन्होंने सामाजिक और दासत्व-प्रथा निवारक-आन्दोलनमें स्त्रियोंको पुरुषोंके समान ही भाग लेने दिया। सन् १८४० के लन्दनके 'विश्व दासत्व-निवारक-संघ' के अधिवेशनके समय उन्होंने स्त्रियोंकी बराबरीका पक्ष लेकर सबकी आँखें खोल दीं।

उक्त अधिवेशनके समय सभामें अमेरिकन स्त्री-प्रतिनिधियोंके लिए उचित स्थान न देखकर वे भी अपने स्थानपर न बैठे, और जिस गैलरीमें लुक्रेशिया माट तथा अन्य अमेरिकन स्त्रियाँ बैठी थीं, उसीमें जाकर बैठ गये!

उनके इस कार्यका प्रभाव जैसा चाहिए था, वैसा ही हुआ। उक्त संघके इस घृणित कार्यने उसपर कालिमा लगा दी और समस्त सभ्य-संसारका ध्यान स्त्रियोंके समानाधिकारोंकी ओर आकर्षित हो गया। अपने दीर्घ और उद्योगशील जीवनमें वे स्त्रियोंके समानाधिकारके सिद्धान्तको भलीभाँति मानते और व्यवहारमें लाते रहे। उनको विश्वास था कि स्त्रियोंको समान अधिकार अवश्य मिलेगा और शीघ्र ही मिलेगा। आज उनकी मृत्युके लगभग अर्धशताब्दी बाद उक्त सत्यका स्पष्टीकरण हो गया है। उनका विश्वास अब संसारका विश्वास हो गया है।

गैरिसनका स्वभाव

गैरिसन बड़े प्रेमी स्वभावके थे और बच्चोंसे उन्हें बड़ा प्रेम था। गैरिसनकी पुत्री श्रीमती फैनी गैरिसन विलार्डने लिखा है—

"बाहरी दुनियामें उन्हें चाहे जितने उत्तेजनापूर्ण वायुमंडलमें रहना पड़े, पर घरपर अपनी स्त्री तथा बच्चोंके पास आकर मेरे पिताजी बिलकुल शान्त हो जाते थे। मेरी माता बड़ी पतिपरायणा थीं। यद्यपि उनके ऊपर चिन्ताओंका काफी बोझ रहता था, पर वे मेरे पिताजीकी खातिर उसे बड़ी प्रसन्नतापूर्वक सहन करती थीं। मेरे पिताजी अक्सर कहा करते थे कि मेरी माताने हमारे घरको स्वर्ग बना दिया है। बमुश्किल तमाम घरमें एक नौकर था, और तमाम बच्चोंकी खबरदारी मेरी माताको ही करनी पड़ती थी। सबके कपड़े भी वही सीती थीं। इसके सिवा हमारा घर दासत्व-प्रथाके विरोधियोंके लिए होटलकी तरह बन गया था। दासत्व-प्रथाके विरुद्ध आन्दोलन करनेवाले जो महानुभाव बोस्टन नगरमें आते, वे सब प्राय: हमारे यहाँ ही ठहरा करते थे। उनके भोजन इत्यादिका प्रबन्ध करना हमारी माताजीका ही काम था, पर पिताजीको भी इस काममें बड़ी मदद देनी पड़ती थी। वह नीचेसे ऊपर पानी लाते थे, लकड़ी चीरते थे, आग जलाते थे, जूतोंपर पालिश करते थे, ज़रूरत पड़नेपर काफी बनाते थे और यह सब काम गाते-गाते करते थे। लेकिन सबसे बड़ा गुण उनमें था बच्चोंकी देखभाल तथा सेवा-शुश्रूषा करनेका। वे अक्सर कहा करते थे—"मेरा विश्वास

गैरिसन

है कि संसारमें मेरा जन्म बच्चोंकी देखभाल करनेके लिए ही हुआ है।"……मुझे याद है कि जब मैं बिलकुल छोटी थी, उस समय मेरे खटोलेके पास आकर उन्होंने मेरा चुम्बन किया था, और कहा था—'कैसे गुदगुदे गरम बिछौने मेरी प्यारी लड़कीको मिले हैं! बेचारे दासोंके अभागे बच्चोंको ऐसे बिछौने कहां मिल सकते हैं! वे तो अपनी माकी गोदसे छीन लिये जाते हैं।"

गैरिसन गंजे थे, और उनकी छोटीसी लड़की जाड़ेके दिनोंमें अपने ठिठुरते हुए हाथोंको उनकी गंजी चाँदपर रखकर गरमाया करती थी। गैरिसन कहा करते थे—"प्यारी लड़की, तुम मेरी अग्निमय चाँदपर अपने ठंडे हाथोंको तापा करती हो।" उनकी लड़की लिखती हैं—"एक दिन पिताजीने मुझसे कहा—"फैनी, मैं तुम्हें एक बात सुनाऊँ। आज एक आदमी मिला। उसने मुझसे कहा—'तुम्हारे सिरपर तो सींग हैं' अच्छा, ढूँढ़ो तो।" मैं चक्करमें पड़ गई, और मैंने उनकी गंजी चाँदपर सींगोंको बहुत कुछ तलाश किया, पर सींग मिले ही नहीं!

"हम लोग निर्धन आदमी थे, इसलिए कुछ लोगोंका खयाल था कि हमारे घरपर सदा उदासी छाई रहती होगी, पर यह बात नहीं थी। दरअसल हम लोग अत्यन्त प्रसन्न रहते थे। मेरे पिताजी बराबर आशावादी रहते थे, और वे हास्यप्रिय भी थे। जब कभी अर्थसंकट आ पड़ता, तो वे मेरी चिन्तित माको साथ लेकर कमरेमें इधरसे-उधर टहलते जाते थे और उसे समझाते थे—'परमात्मा हमारी सहायता करेगा।'"

गैरिसनकी लड़की लिखती हैं—

"इंग्लैण्डके अनेकों बड़े-बड़े सुधारक मेरे पिताके प्रति सम्मान प्रदर्शित करनेके लिए आते थे और हमारे घरपर उनका अतिथि-सत्कार किया जाता था, लेकिन इतनी सादगीसे, मानो वे घर ही के आदमी हों। उन सबके सत्संगसे मुझे और मेरे चारों भाइयोंको जो आनन्द मिलता था, वह व्यक्त नहीं किया जा सकता। जिस दिन संध्याको हमारे यहाँ कुछ समागतोंका निमन्त्रण होता और मा मेरे सबसे छोटे भाईको जल्द ही सुलानेके लिए ले जाती, तो वह रोकर कहता कि वह भोजनका इच्छुक नहीं है, वह बातचीत सुननेका इच्छुक है! दासत्व-निवारिणी सभाएँ ही हम लोगोंके लिए थियेटर और तमाशे थे, और दासत्व-विरोधी वाद-विवाद ही हम लोगोंका खानपान था। हम लोगोंने जो कुछ सीखा, वह न्याय और मनुष्यताके लिए अमिट भक्ति थी, जिसे, चाहे जो हो, हम कभी छोड़ नहीं सकते।

मुझे याद है कि एक अपरिचित सज्जन मेरे पितासे मिलनेके लिए आये। उन्होंने अपना परिचय देनेके बाद कहा—'मि० गैरिसन यदि आप अभी एकाएक गुलामोंको मुक्ति दे देंगे, तो बड़ी गड़बड़ी मच जायगी।'

मैं अपने पिताकी ओर देखने लगी और आश्चर्यसे सोचने लगी कि वे उसका क्या जवाब देंगे। वे उसी प्रकार गम्भीर दिखाई देते थे। वे बोले—'इससे कुछ मतलब नहीं। मैं तो केवल यही जानता हूँ कि गुलामी अनुचित है और स्वतन्त्रता उचित है। जनाब, आप जिस बातके खिलाफ वकालत करने आये हैं, वह गुलामीका परिणाम होगी, आज़ादीका नहीं।'"

गैरिसनके एक लड़केने एक जगह लिखा है—

"गैरिसनके जीवनकी जिस बातपर मैं विशेष ज़ोर देना चाहता हूँ, जो उनके जीवनकी सार वस्तु है, वह है उनकी सम्पूर्ण प्रसन्नता, उनका हँसमुख स्वभाव, उनकी मधुरता और उनकी दयालुता। एकबार एक 'दक्षिणी' (यूनाइटेड स्टेट्सके दक्षिणी भागका अधिवासी, जो गुलामीके पक्षपाती थे) की जहाज़पर जाते हुए गैरिसनसे भेंट हो गई। दोनोंमें बातचीत होने लगी। दक्षिणीने बातचीतके अन्तमें कहा—

'महाशय, आपने जो कुछ कहा, उसे सुनकर मुझे बड़ी दिलचस्पी हुई। खासकर आपका स्पष्ट और संयत ढंग तथा अपना विषय प्रतिपादन करनेका तरीक़ा बड़ा सुन्दर है। यदि दासत्व-विरोधी सभी व्यक्ति आपकी ही भाँति होते, तो आपके उद्देशका विरोध बहुत कम होता; मगर महाशय, निश्चय जानिये कि वह अदूरदर्शी, खर-दिमाग़, उग्र और उन्मत्त गैरिसन किसी भी भले उद्देशको यदि एक बारगी नष्ट न कर डालेगा, तो हानि अवश्य ही पहुँचावेगा।'"

गैरिसनकी लड़की लिखती हैं—"सन् १८६७ में गैरिसन विलायत गये थे। वहाँ २९ जूनको सेंट-जेम्सहालमें उस समयके अनेक सुप्रसिद्ध व्यक्तियोंकी ओरसे उन्हें एक सार्वजनिक जलपानकी दावत दी गई थी। उस भोजमें जान ब्राइटने सभापतिका स्थान ग्रहण किया था, और ड्यूक आफ् आर्गिलने एक रमणीय वक्तृता दी थी। अर्ल रसलने अमेरिकन महायुद्धके समय अलबामा जहाज़को अमेरिकन जहाज़ोंपर डाकाज़नी करनेके लिए अंग्रेज़ी बन्दरगाहसे जानेकी इजाज़त दे दी थी। इस दावतके अवसरपर अर्लने अपने कार्यके लिए खुल्लमखुल्ला माफी मांगी। अन्तिम वक्तृता जान स्टुअर्ट मिलकी हुई। मेरी समझमें उस हृदयस्पर्शी और सुखद अवसरपर वही चरम महत्वकी वस्तु थी। उन्होंने मेरे पिताके जीवनसे सीखने योग्य दो बातोंको निर्दिष्ट किया। एक यह कि—'किसी बड़ी वस्तुको ही अपना लक्ष्य बनाओ; ऐसी ही बातको अपना

ध्येय बनाओ, जिसका प्राप्त करना कठिन है (और कोई भी महान् वस्तु ऐसी नहीं है, जिसका प्राप्त करना कठिन न हो)। यदि तुम किसी सत् उद्देश्यको अपना लक्ष बनाओ और उसमें सफलता प्राप्त करो, तो साधारणत: तुम यह देखोगे कि तुम्हें केवल उसी, एक ही बातमें सफलता नहीं मिली है। अन्यान्य सैकड़ों भली बातोंमें, जिनका तुम्हें स्वप्नमें भी गुमान न हुआ होगा, तुम्हें अपने-ही-आप सफलता प्राप्त हो जायगी। दूसरी बात यह है कि—'यद्यपि हमारी बड़ी-से-बड़ी चेष्टाएँ अकसर व्यर्थ और बेसूद दिखाई देती हों, उनसे कोई ऐसा परिणाम न निकलता हो, जिसपर उँगली उठाकर आप यह कह सकें कि इससे निश्चय ही मानव-जातिका हित हुआ है; यद्यपि सौमें निन्यानवे चेष्टाएँ ऐसी ही हों, फिर भी सौवीं चेष्टाका परिणाम ऐसा महान् होगा, जिसकी आशा करनेका दुस्साहस भी आप नहीं कर सकते और यदि कोई पहलेसे उसके इस परिणामकी बात कहता, तो लोग उसके दिमागमें फितूर समझते !' ''

सन् १८६५ में गुलामीकी प्रथाके नष्ट हो जानेके बाद गैरिसनने अपने पत्र 'लिबरेटर' को बन्द कर दिया, क्योंकि जिस उद्देश्यसे वह निकाला गया था, वह अब पूर्ण हो चुका था। २४ मई सन् १८७९ में ७४ वर्षकी उम्रमें न्यूयार्कमें आपका देहान्त हुआ!

सद्विचारोंका बीज कभी नष्ट नहीं होता। जिस अहिंसाके सिद्धान्तका प्रतिपादन गैरिसनने किया था, वह उस समय तो निरर्थकसा प्रतीत होता था, पर आगे चलकर टाल्सटायने उसे स्वीकार किया। टाल्सटायके विचारोंका प्रभाव महात्माजीपर कितना पड़ा और अप्रत्यक्ष रूपसे हम लोग गैरिसनके कितने ऋणी हैं, इसे कौन कह सकता है?

फिलीपाइनकी महिलाएँ

श्रीमती एग्नेस स्मेड्ले

आजकल चीनकी सुशिक्षिता महिलाएँ तथा मज़दूरों और किसानोंकी स्त्रियाँ चीनकी सामाजिक क्रान्तिके आन्दोलनमें पुरुषोंके साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर लड़ रही हैं। आम सड़कोंपर उनपर गोलियाँ चलाई जाती हैं, उनके सिर काटे जाते हैं, फिर भी वे पुरुषोंके कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर ऐसे साहस और दृढ़ विश्वाससे लड़ रही हैं, जो मानव-जातिके इतिहासमें एक अपूर्व चीज़ है। दूसरी ओर फिलीपाइनके लोगोंपर पिछले तीस वर्षोंसे अमेरिकाने अपना प्रभुत्व जमा रखा है, जिससे वहाँकी मध्य तथा उच्च श्रेणीकी महिलाओंकी केवल यही आकांक्षा रहती है कि वे अमेरिकाकी मध्य तथा उच्च श्रेणीकी महिलाओंकी छोटी-मोटी नक़ल-सी दिखाई दें। ऐसी दशामें चीनमें कुछ दिन रहनेके बाद फिलीपाइनकी यात्रा करनेसे बढ़कर और अधिक आश्चर्यपूर्ण अनुभव क्या हो सकता है? यद्यपि फिलीपाइनकी राजनैतिक स्वतन्त्रताका शोर सुनाई देता है—और लोगोंमें स्वतन्त्रता प्राप्त करनेकी सच्ची और सर्वव्यापी इच्छा भी है—फिर भी मध्य और उच्च श्रेणीकी महिलाओंकी मानसिक गुलामी ऐसी सम्पूर्ण है कि उन्हें उसकी खबर तक नहीं है। उनके लिए तो स्पेनके सामन्त-शासनके स्थानमें—जिसमें कैथोलिक धर्म गुलामीका मुख्य स्तम्भ था—अमेरिकनोंने जो शासन-प्रणाली चलाई, वह निस्सन्देह बहुत उन्नत है। इस शासन-प्रणालीमें धनी स्त्रियोंके लिए बहुतसी सुविधाएँ हैं, परन्तु साथ ही उसमें बहुतसी असुविधाएँ भी हैं। उससे जनसाधारणकी—मज़दूरों और किसानोंकी—स्त्रियोंकी स्थितिमें बहुत थोड़ा—कुछ भी नहीं—अन्तर पड़ता है। उनके लिए तो इस परिवर्तनसे केवल यही हुआ कि एक प्रकारकी गुलामी और दोहनके
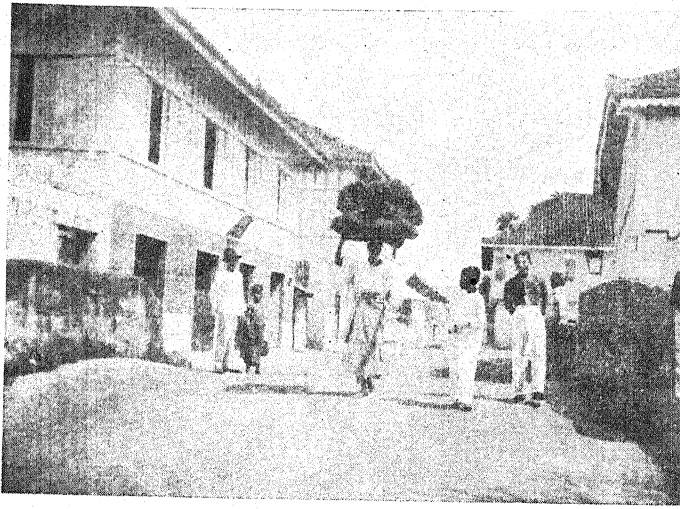
फिलीपाइनकी एक मजदूर स्त्री बोझा लिये सड़कपर जा रही है

स्थानमें दूसरे प्रकारकी गुलामी और दोहन स्थापित हो गया।

स्पेनिश शासनका मुख्य हथियार कैथोलिक धर्म था। वह फिलीपाइनकी स्त्रियोंको सदाचार कहलानेवाली उन बातोंकी शिक्षा दिया करता था, जिन्हें आज भी आप स्पेन, इटली अथवा किसी हद तक फ्रांसमें देख सकते हैं। अमेरिकाके पूँजीवादी शासनने एक दूसरी ही प्रणाली चलाई और अपनी आवश्यकताके अनुसार एक नये वर्गकी सृष्टि की। आजकल फिलीपाइनमें १२,५६७ ट्रेनिंग-प्राप्त शिक्षिकाएँ हैं। पुरुष-शिक्षकोंकी अपेक्षा महिला-शिक्षिकाओंकी संख्या केवल दो हज़ार कम है। यह संख्या अपेक्षाकृत ऊँची है ; मगर इस बड़ी संख्याके होते हुए भी फिलीपाइनके स्कूल जाने-योग्य अवस्थाके बालकोंमें छत्तीस प्रतिशतको ही स्कूली शिक्षा प्राप्त करनेका अवसर मिलता है। मध्य और उच्च श्रेणीकी बालक-बालिकाओंको आमतौर पर शिक्षा प्राप्त करना सम्भव है। मनीलाकी फिलीपाइन-यूनिवर्सिटीके छै सहस्र विद्यार्थियोंमें आधेके क़रीब लड़कियाँ हैं। ये लड़कियाँ मुख्यतः शिक्षिका या नर्सका काम करना दवाखाना रखना तथा

फिलीपाइनका एक गांव

बाजारसे लौटती हुई फिलीपिनो स्त्री

फिलीपाइनकी दो स्त्रियाँ

डाक्टरीके पेशोंको पसन्द करती हैं। तीस स्त्रियोंने वकालत भी पास की है; मगर उनमें एक भी वकालतकी प्रैक्टिस नहीं करती। यूनिवर्सिटीमें भी दस महिला-प्रोफेसर और
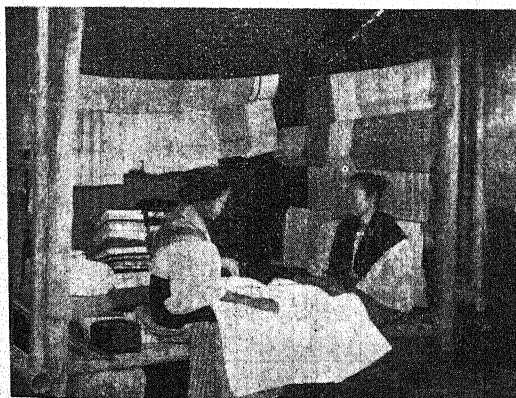
महिला-दूकानदारिन

फिलीपाइनकी सबसे प्रसिद्ध महिला-डाक्टर डा० मेन्डोजा
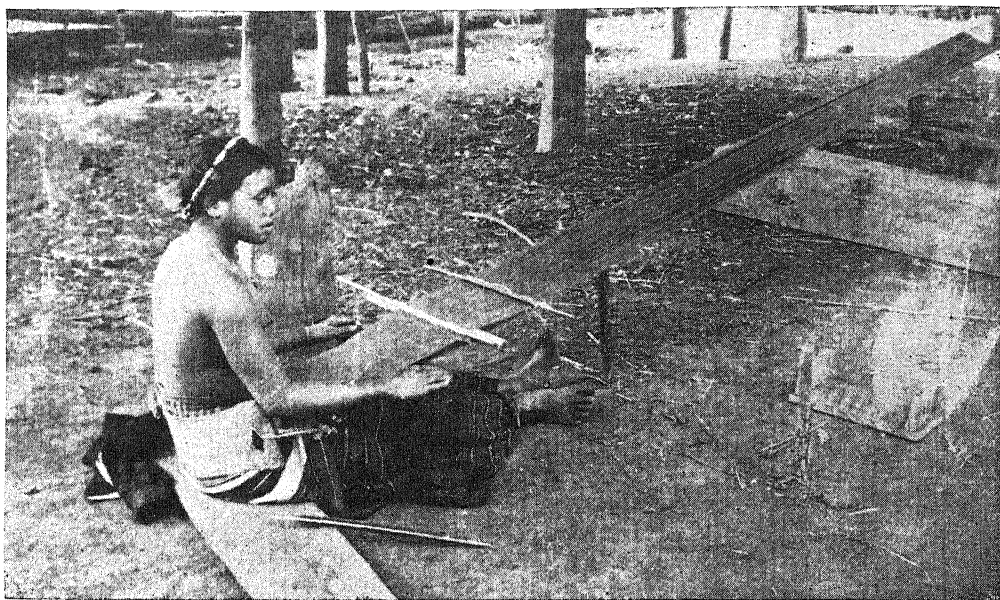
फिलीपाइनके पर्वत-प्रदेशमें कपड़ा बुनाई

शिक्षिकाएँ हैं। आजकल आर्थिक कठिनाईके ज़मानेमें अब यहाँके लोग भी स्त्रियोंके डाक्टरी पेशेमें भरती होनेके विरोधमें वे धराऊ दलीलें पेश करने लगे हैं, जो अन्य देशोंमें भलीभाँति ज्ञात हैं।
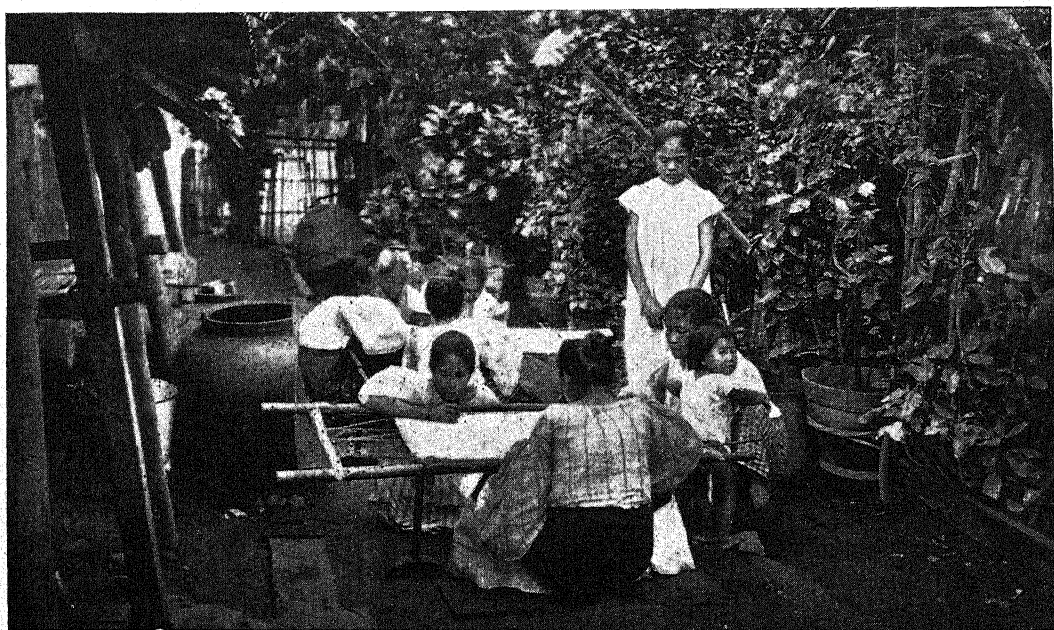
कपड़ेपर दस्तकारीका काम—फिलीपाइनका मुख्य घरेलू धन्धा

निस्सन्देह यह सब बातें देखनेमें बहुत भली दिखाई देती हैं; मगर इसके साथ-साथ अनेकों कठिनाइयाँ भी हैं। अमेरिकन शासनने फिलीपाइन-द्वीपसमूहकी भाषाओंमें एक भाषा और भी बढ़ा दी है। स्पेनिश लोगोंने द्वीप-समूहमें ज़बरदस्ती स्पेनिश भाषा चलाई थी, अमेरिकनोंने उसपर ज़बरदस्ती अंग्रेज़ी भाषा—प्राइमरी स्कूलों तकमें—लाद दी है। इसका अर्थ यह है कि बेचारे लड़कोंपर एक विदेशी भाषाके माध्यमके द्वारा शिक्षा प्राप्त करनेका भार आ पड़ता है, जिसे वे केवल स्कूलमें ही सुनते हैं। फल यह होता है कि उनकी सारी शक्ति विदेशी भाषा सीखनेमें ही व्यय हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप फिलीपाइनमें एक ऐसे शिक्षितवर्गकी सृष्टि हुई है, जो एकदम साहसहीन और मौलिकता-रहित है, तथा जिसमें निर्णयात्मक और आलोचनात्मक चिन्ताशक्ति बिलकुल नदारद है। फिलीपाइन-द्वीपसमूहकी मुख्य भाषा—प्रधान द्वीप लूज़नकी भाषा टागालोग—का विकास और व्यवहार होना चाहिए था, परन्तु इसके विरुद्ध उसकी उपेक्षा की जा रही है, और वह सरकारी तौरसे स्कूलोंमें दबाई जा रही है।

अमेरिकाने फिलीपाइनको कहाँ तक गुलामीमें जकड़ रखा है, यह बात वहाँके सामाजिक जीवनमें दिखाई देती है। फिलीपाइनमें एक 'फेडरेशन आफ् वीमेन्स क्लब्स' (महिला-क्लब-संघ) है। यह यूनाइटेड स्टेट्सके फेडरेशन आफ् वीमेन्स क्लब्सकी एक शाखा तथा उसकी एक निर्जीव नक़ल है। फलत: इस क्लब-संघके कार्य भी प्राय: निर्जीव ही होते हैं। बस, इन क्लबोंकी सदस्याओंका कार्य इतना ही है कि वे चाय-पार्टी और ब्रिज-पार्टी (ताशका खेल) दिया करती हैं, कुछ धार्मिक कार्योंमें दख़ल या खलल डाला करती हैं, राजनैतिक कार्योंमें बिना कोई भाग लिए हुए अथवा बहुत थोड़ा भाग लेकर दूसरोंकी हाँमें हाँ मिलाया करती हैं, और उनकी सबसे बड़ी चेष्टा यही रहती है कि वे प्रतिष्ठित दिखाई दें, यानी वे ऐसे किसी कार्यको हाथसे छूना नहीं चाहतीं, जिसमें उनकी श्रेणीकी कट्टर और प्रतिष्ठित महिलाओंके—अमेरिका और फिलीपाईन दोनों स्थानोंकी—आलोचनाकी आशंका हो। यह सच है कि फिलीपाइनकी महिलाएँ स्त्रियोंके लिए मताधिकारकी माँग पेश कर रही हैं, मगर अत्यन्त प्रतिष्ठित और निर्जीव ढंगसे। वे फिलीपाइनकी व्यवस्थापिका सभाकी अगली बैठकमें अपने पुरुष समर्थकोंकी सहायतासे इस सम्बन्धमें एक बिल भी उपस्थित करानेवाली हैं। अधिकांश केथोलिक धर्मानुयायिनी होनेके कारण वे किसी भी प्रकारके तलाक़-सम्बन्धी क़ानूनके खिलाफ़ हैं, और मौजूदा तलाक़के क़ानूनको भी—जिसमें तलाक़का मुख्य आधार दुराचार है—ढीला नहीं करना चाहतीं। इस क़ानूनके अनुसार दुराचार एक अपराध है, जिसमें तीन वर्षकी सज़ा हो सकती है। फल यह होता है कि किसी मर्द या औरतके लिए तलाक़ चाहना असम्भव है, क्योंकि तलाक़ माँगनेका अर्थ यह है कि दोषी व्यक्तिको क़ैदकी सज़ा हो जाय। क्लब-संघकी महिलाएँ प्राय: धनी और सम्पत्ति-अधिकारिणी हैं, अत: वे उस क़ानूनमें सुधार करनेकी बड़ी इच्छुक हैं, जिसके द्वारा विवाहिता महिलाओंकी सम्पत्ति उनके पतियोंके एकमात्र अधिकारमें होती है। ये स्त्रियाँ सन्तान-निग्रहके भी विरुद्ध हैं, यद्यपि द्वीप-समूहमें दस बच्चोंसे लेकर अठारह बच्चों तकके परिवारकी कमी नहीं है, जिसके परिणाम-स्वरूप बच्चों और माताओंकी मृत्यु-संख्या बहुत अधिक है।

एक बात विचित्र है। इस श्रेणीकी फिलीपिनो स्त्रियाँ एशियाई होते हुए भी अमेरिकन बातोंको बहुत अधिक जानती हैं, परन्तु उन्हें अन्य एशियाई देशोंकी बिलकुल खबर नहीं है। साम्यवाद अथवा कम्यूनिज्मके सम्बन्धमें न तो उन्होंने कुछ सुना है और न एक अक्षर पढ़ा है। एक प्रसिद्ध महिलाके पति महाशयने, जो प्रोफ़ेसर हैं, मुझसे यह भी कहा कि अन्य सब जर्मनों और रूसियोंकी भाँति कार्ल मार्क्स भी अस्थिर मति और विकृत (Unbalanced) था। एक दूसरी महिलाने, जिसकी बहुत बड़ी ज़मींदारी है, मुझसे कहा—"मैं नहीं जानती कि आजकल टापूके मज़दूरोंमें यह अशान्ति और गड़बड़ी क्यों है। हाँ, मुझे यह निश्चय

मालूम पड़ता है कि मज़दूरोंके नेता हम लोगोंको देखकर जलते हैं और इन अनजान मज़दूरोंके द्वारा पैसा कमाना चाहते हैं।"

यदि आप इस श्रेणीकी महिलाओंको छोड़ दें, तो आपको फिलीपाइनमें एक बिलकुल विभिन्न श्रेणीकी महिलाएँ भी मिलेंगी। मलायाकी अन्य सब जातियोंके समान यहाँ भी सारे फुटकर व्यापार अधिकतर स्त्रियोंके ही हाथमें हैं, और जो चीनी व्यापारी उनके इस प्राचीन रोज़गारमें उन्हें नीचा दिखाना चाहते हैं, उन्हें निस्सन्देह बड़े तड़केसे उठकर खटना पड़ता है। यहाँकी सर्वसाधारण स्त्रियाँ प्रबन्ध करनेके लिए प्रसिद्ध हैं, और यह आम दस्तूर है कि पुरुष अपनी सारी कमाई स्त्रियोंके हाथमें सौंप देते हैं। वे ही उसे खर्च और इस्तेमाल करती हैं।

फिलीपाइन-निवासियोंमें अधिकांश संख्या किसानोंकी है, अतः सर्वसाधारण स्त्रियोंमें किसान स्त्रियाँ ही बहुत हैं। ये स्त्रियाँ मर्दोंके साथ बराबरीसे—अथवा अकसर बराबरीसे भी ज्यादा—खेतका काम-काज और घरेलू उद्योग-धन्धे किया करती हैं, और इस प्रकार किसी तरह अपना दुर्दशाजनक अस्तित्व क़ायम रखती हैं। अधिकांश किसान बड़ी-बड़ी ज़मींदारियोंके रैयत-काश्तकार या मज़दूर होते हैं। वे दयालु और मित्रतापूर्ण स्वभावके होते हैं। मैंने फ़सलके समय—जनवरी-फरवरीमें—फिलीपाइनकी यात्रा की थी। उस समय अनेक मनोरंजक दृश्य दिखाई देते हैं। पके धानके सुनहरे खेतोंमें ये किसान इधरसे उधर आते-जाते दिखाई देते हैं। वे प्रायः बहुत कम कपड़े पहनते हैं। पुरुष लाल पाजामे पहनते हैं, या गलेमें लाल रूमाल बाँधते हैं। स्त्रियाँ अकसर चटकीले लाल रंगका रूमाल अपने सिरपर बाँधती हैं, जो आम तौरसे किसान स्त्रियोंका फैशन है। जब वे दाँय चलाती हैं या धान लगाती हैं, तब वे मिलकर गाना गाती हैं। कभी-कभी उनके गानेके साथ-साथ सितार भी बजा करता है। फल यह होता है कि एक करुणाभरे सुन्दर गानकी सृष्टि होती है, जिसके शब्द यद्यपि परिश्रम और श्रान्तिसे भरे होते हैं, परन्तु संगीत आमोदपूर्ण होता है।

किसानों और मज़दूरोंसे सम्बन्ध रखनेवाले घरेलू उद्योग-धन्धे अनेकों हैं, जिनमें कपड़ोंपर दस्तकारीका काम और टोप बुनना प्रधान है। ये दोनों पेशे भी मुख्यतः स्त्रियोंके ही हैं। सन् १९२८ के आयात-निर्यातके आँकड़ोंसे मालूम होता है कि उस वर्ष फिलीपाइनसे १,२०,२३,०६५ पिसोका दस्तकारीका कपड़ा और ४०,९७,४५७ पिसोके टोप बाहर भेजे गये। ये धन्धे, विशेषकर कपड़ेपर दस्तकारीका काम अब बड़े-बड़े नगरोंमें भी शुरू किये गये हैं। उनमें काम करनेवाली मज़दूरिनोंको—सिगरेट और सिगारके कारखानोंकी मज़दूरिनोंकी तरह—बहुत थोड़ी तनख्वाह दी जाती है। उन्हें दिन-भरमें ३० या ४० अमेरिकन सेंटके बराबर मज़दूरी मिलती है, जो किसी स्त्रीके भले प्रकारसे जीवन-निर्वाहके लिए आधीसे भी कम है। अन्य एशियाई देशोंकी भाँति यहां भी मज़दूरी कामके हिसाबसे दी जाती है, जिसका फल यह होता है कि बेचारी मज़दूरिन अधिकाधिक काम करनेके लिए जल्दाजल्दी मचाये रहती हैं, जिससे उनके स्नायुओंपर बड़ा तनाव पड़ता है। सिगार और सिगरेटके कारखानोंकी दशा और भी खराब है। वहाँ हवा आनेकी गुंजाइश कम होती है और उसमें औरतोंको सिगरेटके १००० पैकट लपेटनेपर ८० सेन्टावोस मिलते हैं। इन कारखानोंका प्रबन्ध प्रायः जर्मन, स्पैनिश और अमेरिकनोंके हाथमें है।

सम्भव है कि फिलीपिनो स्त्रियोंका सीधा और नरम—उग्रताहीन—स्वभाव उनकी जातिका विशेष गुण हो, अथवा यह भी सम्भव है कि वह गत चार सौ वर्षकी गुलामीका परिणाम हो। फिलीपाइन पहले स्पैनिश लोगोंकी गुलामीमें था और अब अमेरिकावालोंकी गुलामीमें है। इसके अलावा वह धार्मिक परतन्त्रतामें तो सदासे ही है। अथवा उनकी सिधाईका कारण यह भी हो सकता है कि वे सदासे कृषक-जातिके रहे हैं। कहते हैं कि स्त्रियोंको ओजहीन और

और निर्जीव बनाये रखनेमें सबसे बड़ा हाथ ईसाई धर्मका है, परन्तु अब आर्थिक कठिनाइयां ईसाई धर्मसे भी अधिक शक्तिशाली होती जाती हैं, और फिलीपाइनकी स्त्रियां, विशेषकर कृषक श्रेणीकी स्त्रियां, अधिक सजग और क्रियाशील हो रही हैं। नई पौधकी कुछ कृषक स्त्रियोंने कृषकोंकी एक यूनियन या समिति बनाई है। इन स्त्रियोंको कभी-कभी स्त्रियोंका ही सामना करना पड़ता है, क्योंकि बहुतसी ज़मींदारियोंकी मालिक धनी श्रेणीकी स्त्रियां हैं। पिछले कुछ महीनोंमें फिलीपाइनमें श्रेणी संघर्ष (Class struggle) अधिक गहरा हो गया है। इसी आन्दोलनसे मालूम पड़ेगा कि फिलीपिनो स्त्रियां क्या चीज़ हैं।

अब पछताये होत का ?

श्री सजनीकान्त दास और धन्यकुमार जैन

देवरानी जिठानीमें भीतर-ही-भीतर मनमुटाव चल रहा है। बात सिर्फ इतनी-सी थी कि दोनों निर्मलको दामाद बनाना चाहती हैं। बाहरसे कुछ मालूम नहीं पड़ता था—खुलकर कोई कुछ कहती-सुनती भी न थीं; उस दिन उमरावकी अम्माँने आकर सब गड़बड़ कर दी। उमरावकी अम्माँ गाँव-भरकी बड़ी-बूढ़ी थीं; उन्हें देखते ही लड़के-बच्चे गिल्ली-डंडा छोड़कर भाग जाते, और औरतें सिटपिटाकर बदनका कपड़ा और माथेका घूँघट सम्हालने लग जातीं। घरकी नई दुलहिनें उमरावकी अम्माँके मुँहसे तारीफ़ सुननेके लिए उन्हें पान-सुपारी-तमाकू देनेको हरदम तैयार रहती हैं; क्योंकि उनके मुँहसे तारीफ़का मतलब गाँव-भरमें तारीफ़ कराना है—गाँवका ऐसोसियेटेड-प्रेस ही जो ठहरा।

उमरावकी अम्माँने कहा—"बतासो, तेरी लड़की तो धींगरी हो चली—कोई लड़का देख-भालकर इसके पीले हाथ क्यों नहीं कर देती। निरमल भी तो खूब बड़ा हो गया है—सुनती हूँ अंगरेज़ी भी खूब पढ़-लिख रहा है।"

जिसके ब्याहके लिए उमरावकी अम्माँ इतनी चिन्तित हो उठी थीं, वही—बतासोकी लड़की—श्रीमती रतनमाला उर्फ रत्तो नाचती हुई एकदमसे उमरावकी अम्माँके ऊपर आ पड़ी। स्थूलकाया उमराव-माता ज़रा घबरा-सी गईं। खैरियत हुई जो उस दिन उनका मिजाज अच्छा था, वर्ना मालूम पड़ जाता आटे-दालका भाव! हँसी-हँसीमें बोलीं—"क्यों री रत्तो, तुझे इतनी खुशी किस बातकी?" रतनमाला धक्का खाकर ज़रा सिटपिटा-सी गई थी, ऊल-फूल सब बिला गई थी। थोड़ी देर बाद शान्त होकर बोली—"अम्माँ, सुनो, निरमल-भइया कहते थे—"

अम्माँ गरज उठीं—"फिर कहा निरमल-भइया?—नाम लेती है, ज्यों-ज्यों बड़ी होती जाती है—सऊर सीखती जाती है, क्यों? निरमलके सामने तू अब भी निकलती है, एं?"

रतनको बड़ा आश्चर्य हुआ, बोली—"क्यों, निकलूँ नहीं तो क्या करूँ?"

माको अब सचमुच गुस्सा आ गया, बोलीं—'और फिर पूछती है 'क्यों!' वह तो तेरा दूल्हा है—"

रतन मारे शरमके—"हट"—कहकर वहाँसे चली गई। उमरावकी अम्माँने ज़रा हँसकर कहा—"अरे है तो अभी लड़की ही, अभी दसोंमें पढ़ी है—उस उमरमें हम लोग

दूल्हाके साथ गुड्डा-गुड़ियोंका ब्याह खेला करती थीं। यही तो उमर है, बहन, खेलने-कूदनेकी! जहां सासुरेको गई नहीं कि सब ऊधम जाता रहेगा।''

पास ही बतासोकी विधवा देवरानी द्रोपदी बैठी-बैठी सुपारी कतर रही थीं, कहने लगीं—''दसींमें कैसे जीजी, रत्तोको तो बारहीं लग गई—इसी पूससे मेरी पारो चौदहींमें पड़ गई—पारोसे रत्तो दो ही बरस तो छोटी है।''

पारो यानी पार्वती द्रोपदीकी लड़की है—रतनमालाकी ताऊकी लड़की।

जिठानीकी बात बतासोको अच्छी नहीं लगी, बोली—''लड़की सयानी हो चुकी, इस बातका ढोल क्या पीटना, जीजी,—वैसे ही लड़का ढूँढ़े नहीं मिलता—''

इन शब्दोंमें पारोके बारेमें ज़रा श्लेष था। द्रोपदीने पारोके लिए वर ढूँढ़नेमें, एक विधवा जहां तक कर सकती है, उससे कहीं ज्यादा कोशिश की थी, मगर सफल न हुई। मिश्रजीके घरका निर्मल उनको ख़ूब पसन्द आ गया था, और इस बारेमें देवरसे उन्होंने बातचीत भी की थी; पर देवरपत्नी बतासोका भी निर्मलपर लोभ था, इसलिए देवरने फिर उधर कुछ ध्यान नहीं दिया। द्रोपदी इसके लिए मन-ही-मन उनसे काफ़ी नाराज़ थीं।

उमरावकी अम्माँ अचानक द्रोपदीसे पूछ बैठीं—''क्यों री द्रोपा, पारोके लिए कोई लड़का ढूँढ़ा?''

द्रोपदी भीतर-ही-भीतर बहुत दिनोंसे घुमड़ रही थीं—खासकर आज उनका जी अच्छा न था। बोलीं—''मैं तो निरमलके ही भरोसे थी जीजी, अब सुनती हूँ छोटी बहू रत्तोकी सगाई करना चाहती हैं उससे।''

उमरावकी अम्माँको अब ज़रा आभास-सा मिला दोनोंमें ठननेका; ज़रा मज़ा देखनेके लिए बोलीं—''बात तो ठीक है बतासो, रत्तो दो बरस क्वारी भी रह सकती है अभी—पारोकी सगाई निरमलसे हो जाय तो हर्ज क्या—पेटकी न सही, है तो तुम्हारे ही घरकी लड़की—''

बतासो मन-ही-मन खीझ उठीं, ज़रा गुस्सेमें ही बोली—''हमारे करनेसे क्या होता है जीजी, यह तो मिसरानीजीके हाथकी बात है। वे पारोको पसन्द करेंगी, तो पारो ही वहां जायगी। पर वे तो छोटी लड़की चाहती हैं, इसका क्या किया जाय?''

उमरावकी अम्माँका उद्देश सिद्ध हुआ। उन्होंने अपने विपुल शरीरको उठानेकी कोशिश करते हुए कहा—''अब चलती हूँ बहन, कहीं भी हो, बिटियोंको पार करना है, इतनी बड़ी क्वारी लड़कियोंका घरमें रखना ठीक नहीं—दुश्मन कम थोड़े ही हैं—''

दोनों समझ गईं कि दुश्मनोंकी कमी अब तक थी भी, तो अब न रहेगी।

द्रोपदीने कुछ डरते हुए कहा—''आया करो जीजी, कभी-कभी तुम ज़रा आ जाया करती हो, तो जी बहल जाता है, नहीं तो फिकिर खाये जाती है।'' लड़कीके लिए कहा—''अरी पारो, अपनी ताईको दो पान तो लगा ला—थोड़ीसी तमाकू भी लेती अइओ।''

उमरावकी अम्माँने हँसकर कहा—''तमाकूकी कहनी थोड़े ही पड़ेगी पारोको, बिटिया मेरी बड़ी सऊरकी है—ताईको वह ख़ूब जानती है।''

बतासोको इस बातसे खुशी न हुई। उसने इसका अर्थ यह लगाया कि रत्तोसे पारो सऊरकी है। बरंडेसे वह घरके भीतर चली गई।

पारो अर्थात् श्रीमती पार्वतीदेवीने धीर गतिसे आकर ताईके हाथमें पान दिये। अपनेको माके लिए अनेक कष्टोंका कारण मानकर वह मन-ही-मन बहुत ही संकुचित रहती थी और बाहरसे अपनेको, जहां तक बनता, छिपाये रहती। उसकी उम्र कुल चौदह सालकी होनेपर भी उसने अपनी उम्रसे कहीं अधिक अनुभव कर लिया था, और बहुत ज्यादा गम्भीर रहती थी। उसका रंग साँवला था, पर उसके चारों तरफ़ एक तरहका मनोरम माधुर्यका प्रलेप-सा था; अपनी क्षीण देह-लता लिये वह जहां-कहीं उपस्थित रहती, वहीं एक तरहका शान्त सौन्दर्य खिल उठता।

निर्मलके बारेमें अम्माँ और चाचीमें मनमुटाव चल रहा था, इस छरछरे बदनकी साँवली लड़कीको उसका आभास मिल चुका था, इसीलिए वह निर्मलके सामने निकलती न थी।

पर निर्मल उसे अच्छा लगता है। निर्मल आकर जब बातों-ही-बातोंमें हँसता-मुस्कराता हुआ उसकी स्वाभाविक गम्भीरताको नोंच-नाचकर अलग कर देता, तब वह एक ऐसी अपरिचित दुनियाका कुछ-कुछ परिचय पाती, जहां जानेकी उसकी गुप्त आकांक्षा होनेपर भी उसकी आवेष्टनी उसे हमेशा वहां जानेसे रोक दिया करती। उसने बहुत बार कल्पना की है—निर्मलकी वह 'सब-कुछ' बन गई है, प्रेम और सेवासे उसकी छोटीसी गिरस्तीको उसने भर दिया है—सासको घरके काममें वह तिनका भी न तोड़ने देगी—निर्मलको सब तरहसे सुखी बनायेगी—इत्यादि अनेक कल्पनाएँ उनके मनमें आती रहती हैं। इसीसे उसने भी जब सुना कि रत्तोके साथ निर्मलकी सगाई होगी, तो वह मन-ही-मन खुश न हुई। फिर भी उसने रतनका मन लेनेके लिए हँसी-हँसीमें उससे यह बात कही; सुनकर रतन हँसते-हँसते लोट-पोट हो गई। पारो इसका ठीक कारण न समझ सकी, फिर भी वह कुछ-कुछ प्रसन्न थी।

उमरावकी अम्माँके हाथमें पान-तमाकू देकर पारो वहीं खड़ी रही। उमरावकी अम्माँने उसकी ठोड़ी हिलाकर, उसके गालोंकी एक मिट्टी लेकर कहा—"बिटिया मेरी बड़ी रानी है, बिटिया मेरी कभी दुख न देखेगी, बड़ी बऊ,—जिस घरमें जायगी, वहां उजेरा करेगी।"

पारो शरमाकर उँगलीमें धोतीका आँचल लपेटने लगी। उमरावकी अम्माँ पान और ऊपरसे तमाकू मुँहमें डालकर चलती बनीं।

[२]

जिन सुघड़-सुरूप वरको लेकर इतना बखेड़ा उठ खड़ा हुआ है, वे चिरंजीव निर्मलकुमार मिश्र मैट्रिक पास करके इलाहाबादमें एफ० ए० में पढ़ रहे हैं। कुँवरसाहब जल्दी ही परीक्षा देनेवाले हैं। चंचल और कौतुकप्रिय होनेसे कालेजके लड़कोंमें निर्मलकी काफी प्रसिद्धि थी। पढ़ने-लिखनेमें बहुत तेज़ होनेपर भी शरारतमें शैतानके भी कान काटता था, इसलिए कुछ लड़के उसकी निन्दा भी किया करते थे; मगर जिनसे उसका घनिष्ठ परिचय था, वे उसके गुणोंके सामने दोष बहुत कम देखते थे। वह हँसी-मज़ाक और शोर-गुलमें काफ़ी समय बिता देता था, फिर भी, उसके कर्तव्योंमें कोई भी त्रुटि नहीं पाई जाती थी। जब वह गांवमें रहकर स्कूलमें पढ़ता था, तो वहां भी सब लड़कोंका वह नेता था, इसीलिए बड़े-बूढ़े लोग उसके विरुद्ध कभी कोई बात नहीं उठाते थे। हर घरमें उसकी अबाध गति थी—बड़ी स्त्रियां उससे बड़ा स्नेह रखती थीं, और छोटी लड़कियोंको उसके बिना सूना-सा लगता था। कभी यह चीज़, कभी वह चीज़ ला-लाकर, अजब-अजब किस्से कहानियां और तरह-तरहकी हँसीकी बातें सुना-सुनाकर उसने उनका मन चुरा लिया था। जब वह मैट्रिक पास करके इलाहाबाद पढ़ने गया, तब बड़ी-बूढ़ियोंने उसकी विधवा माताके दुःखमें काफ़ी सहानुभूति दिखाई थी, और उनका लड़का खूब पढ़-लिखकर वकील-बारिस्टर होकर लौटेगा, इसकी भी आशा दिलाई थी; परन्तु छोटी लड़कियोंको सचमुच बहुत कष्ट हुआ था। निर्मल हर छुट्टीमें आने और उनके लिए कोई अच्छी चीज़ लानेका वादा करके उन्हें बहलाये रखता।

पांड़ेके घरसे निर्मलकी अत्यन्त घनिष्ठता थी। बतासोका लड़का दयाशंकर उसका सहपाठी था;—रत्तो या पारोके साथ निर्मलका ब्याह होगा, यह बात दयाशंकर भी जानता था और निर्मल भी। इसी सिलसिलेमें निर्मल जब-तब दयाशंकरसे दिल्लगी भी किया करता। निर्मल इस विवाहका विरोधी कभी भी न था, और उसकी मा भी इस विषयमें एक तरहसे निश्चिन्त थीं।

गांवके लोग प्राय: सभी जानते थे कि रतन या पार्वती, दो में से एकका ब्याह निर्मलसे होगा ज़रूर, चाहे किसीका हो। निर्मलको पार्वती ज्यादा पसन्द थी; मगर रतन भी

बुरी नहीं थी। मान लो, उसे 'स्वयंवर' होना पड़े, तो किसको वह ग्रहण करेगा, कुछ भी ठीक नहीं। वह जानता था कि पार्वतीको मा भी ज़्यादा पसन्द करती हैं, इसलिए शायद उसीके साथ उसका ब्याह होगा, पर रतन ऐसी क्या बुरी है? पार्वती बड़ी गम्भीर रहती है—रतनकी तरह ऊधम नहीं मचा सकती; क्योंकि वह ख़ुद ज़रा शोर-गुलको ज़्यादा पसन्द करता था।

निर्मल अपनी तरफ़से चाहे जो कुछ सोचे; मगर रत्तो और पारो उसके विषयमें और ही कल्पना पोषण करती हैं। रतन उमरमें छोटी थी—विवाह क्या चीज़ है, इसको वह अच्छी तरह न समझनेपर भी इतना ज़रूर जानती थी कि ब्याह है बड़े मज़ेकी चीज़, और इसलिए वह सब जगह गाती फिरती थी कि वह निर्मलकी 'बऊ' बनेगी। इसी विषयमें निर्मलको भी उसने छेड़ा था, निर्मलने उसके कान ऐंठ दिये थे।

पारो बातको समझती थी, और निर्मलके साथ ब्याह हो जानेपर वह ख़ूब सुखी रहेगी, ऐसी धारणा भी उसके मनमें बैठ चुकी थी। ठीक प्रेम करनेकी उम्र न होनेपर भी उसका मन निर्मलकी तरफ बहुत-कुछ झुक चुका था, इसीलिए निर्मलके पास रहनेकी आकांचा रहनेपर भी मारे शरमके उससे वह दूर रहा करती।

परन्तु गड़बड़ी हुई एक जगह। निर्मल पहले-पहल जब इलाहाबाद आया, तब उसे वहाँ अच्छा नहीं लगता था, सब उसे सूना-सूना-सा मालूम होता था। अपना छोटा-सा गाँव, अपने साथके लड़के और गाँवकी लड़कियोंकी याद कर-करके वह बहुत ही उदास रहता था। इलाहाबादमें वह अपने चचेरे भाइयोंके यहाँ रहता था। वे बहुत बड़े आदमी थे—कई पीढ़ी इलाहाबादमें बीत चुकी थीं। प्रारम्भमें भाभियोंका लाड़-प्यार भी उसे न बाँध सका; वह चुपचाप अपने पढ़नेके कमरेमें पड़ा-पड़ा अपने गाँवकी बात और माकी बात और ज़्यादातर रत्तो और पारोकी बात सोचा करता—वे क्या करती होंगी, क्या सोचती होंगी, उसकी याद करती होंगी, कब जाकर उनसे मिलेगा, यही सब बातें सोचा करता।

परन्तु रहते-रहते धीरे-धीरे शहरकी आबहवा उसके अनुकूल हो गई। बिजलीकी रोशनी, एलेक्ट्रिक पंखा, थियेटर, बायस्कोप-सीनेमा, फुटबॉल, क्रिकेट, स्टेशन, त्रिवेणी, छुट्टीके दिन चुनारकी सैर, कुल मिलाकर इलाहाबाद शहर उसे बहु-विस्तृत और अत्यन्त रहस्यमय मालूम होने लगा। छोटी भाभीकी बहनोंको देखकर लड़कियोंके विषयमें धारणा भी उसकी बदलने लगी। वे कैसी अप-टू-डेट हैं—कोई कालेजमें पढ़ती है, तो कोई आर्य-बालिका-विद्यालयमें, एड़ीदार जूता पहनती हैं, अंग्रेज़ी-मिश्रित शुद्ध हिन्दी बोलती हैं, गाँवकी लड़कियोंकी तरह कसके चोटी नहीं बाँधती, इत्यादि बहुत-सी चीज़ें क्रमशः आँखोंको अच्छी लगने लगीं—उसे आकर्षित करने लगीं। उसकी दृष्टि और विचार नये अनुभवकी मायासे परिवर्तित होने लगे। गाँवके खेल-कूद, गाँवके सुख-दुःख, स्नेह-ममताकी बातें क्रमशः धुंधली होते-होते विस्मृतिके अन्धकारमें विलीन हो गई;—जितना रहा, उसमें उसे सिर्फ़ ग्रामीणताकी गन्ध आने लगी—हृदयके परिचयको, तो वह बिलकुल भूल ही गया।

जिस गाँवकी स्मृति अब तक उसे सुखदुःखकी रसद देती थी, जिस गाँवका सुख-दुःख आशा-आनन्द उसके हृदयमें ओतप्रोत भरा हुआ था, उसकी नई दुनियामें उसके लिए कोई स्थान ही न था,—हो भी, तो मज़ाक उड़नेके डरसे वह मानता न था। पहले जब लोग उसके गाँवके गँवारूपनपर चुटकियाँ लेते थे, तो वह उसका विरोध करता था—गुस्सा होता था, अकेले अपने कमरेमें बैठकर आँसू बहाता था। मगर आज वह ख़ुद उस तरहके मज़ाकमें भाग लेता है। नया शिकार मिल जानेपर वार किये बिना नहीं रहता। यहाँ तक कि अपने जिगरी दोस्तोंमें बैठकर पारो और रत्तोकी बेवकूफ़ियों और गँवारूपनकी खिल्ली उड़ाकर उनका मनोरंजन करता है। पूजाकी वेदीपर जिनका स्थान था, आज उन्हें कीचड़में

सानने‌में आनन्द पाता है। रहन-सहन और पोशाक आदिके साथ-साथ निर्मलका हृदय भी बिलकुल बदल गया।

निर्मल जब दूसरी बार इलाहाबाद आया, तो उसके इस नये फेशनका बहुत ज़्यादा विकास हुआ। गाँव तो वह सिर्फ इसी लिहाज़से जाता था कि वहाँ उसकी मा हैं, नहीं तो गाँवका नाम भी न लेता। अबकी बार तो वह दो-चार दिन घरपर रहकर पढ़ने-लिखनेका बहाना कर इलाहाबाद चला आया। क्या करे, शहरके मोहने उसपर ऐसा ही जादू डाला है।

उसकी इस उदासीनतापर और किसीकी निगाह पड़ी हो चाहे नहीं, पर पारो उसका रंगढंग देखकर शंकित-सी हो गई। उसने देखा कि उसका वह निर्मल अब नहीं रहा—वह बिलकुल नया आदमी हो गया है—इसके लिए पारो अत्यन्त व्यथित हुई, पर उसकी आशा अब भी क्षीण-रूपमें विद्यमान रही। निर्मल उसीसे ब्याह करेगा—इस दुराशाको अब भी वह दूने आवेगसे जकड़े हुए थी।

रत्तोकी दृष्टि निर्मलके इस परिवर्तनपर न पड़नेपर भी उसके व्यवहारसे वह दुःखित ज़रूर हुई। निर्मल अब उसे पहलेकी तरह अपने पास नहीं बुलाता, 'रत्तो-रत्ता-रत्ती' कहकर उसे चिढ़ाता नहीं! वह रूठ जाती—निर्मलको ख़ूब तंग करनेकी कोशिश करती और कभी-कभी उसकी दृष्टि आकर्षित करनेमें भी सफल होती—बस, इसीमें उसे सन्तोष था।

[३]

दशहरेकी छुट्टीमें निर्मल गाँवमें आया है। दो-ढाई महीने बाद परीक्षा है, इसलिए दशहरेके बाद वह इलाहाबाद चला जायगा—अभीसे उसने मासे यह कह रखा है।

परन्तु अबकी बार वह स्वस्थ मन लेकर न जा सका। उस दिन बतासो और द्रोपदीमें जो खटपट हुई, उसकी लहरें उसके मनपर भी जाकर लगीं। रत्तोके पिताने निर्मलकी मासे इस सम्बन्धके बारेमें ज़िक्र किया। निर्मलकी माको इस विषयमें कोई ऐतराज़ न था, बस, एक बार लड़केसे पूछ लेना-भर है। पढ़ा-लिखा लड़का है, उसकी राय लेना माने उचित समझा। साथ ही पारोका भी ज़िक्र करना वे न भूलीं।

किशोर और यौवनके सन्धिस्थलमें जो दुर्लभ स्वप्न-सा था, आज निर्मलको उस विषयमें कुछ मोह ही नहीं! रत्तो और पारोके साथ विवाह करनेकी बात सोचते ही उसे हँसी आती है। 'रतन' लिखनेमें जिनसे तीन ग़लतियाँ होती हैं, उनके साथ विवाह!—असम्भव बात है। उसने मासे कहा—"बी० ए० पास किये बिना मैं ब्याह न करूँगा—इससे पढ़ने-लिखनेमें बहुत विघ्न आते हैं"—इत्यादि बहुतसी बातें कहकर उसने माको चुप कर दिया।

माने कहा—"उनकी लड़की तो बहुत बड़ी हुई जा रही हैं—अब वे रोक थोड़े ही सकेंगे?"

ज़रा मुसकराकर निर्मलने कहा—"मा, देशमें लड़कियोंका अकाल थोड़े ही पड़ गया है—लड़की बहुत मिल जायँगी। अब उनका ब्याह हो जाना ही अच्छा है।"

विचार तो निर्मलके बदले हैं, माके तो नहीं बदले। इतने दिनोंसे उनके साथ सम्बन्ध चला आ रहा है, सगाई पक्की न होनेपर भी बात तो सारे गाँवमें फैल ही चुकी है, अब पलट जाना तो बड़ा अन्याय होगा; मगर लड़का कहां मानता है, उसे कौन समझावे? आखिर झखमारकर माको कहना ही पड़ा कि 'लड़का बी० ए० पास किये बिना ब्याह न करेगा।' सुनकर पांडोंके घरकी देवरानी-जिठानी दोनोंके सिरपर वज्र-सा टूट पड़ा। रत्तोके तो ख़ैर बाप मौजूद हैं, उसके लिए लड़केकी कमी न होगी,—पर बेचारी द्रोपदी क्या करे? उसे तो चारों ओर अँधेरा-सा दिखाई देने लगा। एक दिन उन्होंने अकेलेमें निर्मलको बुलाकर कहा—"बेटा, तुम तो नासमझ नहीं हो, मैं तो बहुत दिनोंसे यह आस लगाये बैठी थी कि तुम्हारे ही हाथों इस अभागीको सौंपकर निश्चिन्त होऊँगी—"

पारो जानती थी कि माने निर्मलको क्यों बुलाया है।

वह दरवाज़ेकी ओटमें खड़ी-खड़ी सुन रही थी। माकी बात सुनकर वह मारे शरमके ज़मीनमें गड़ गई,—छि: छि:, भिखारीकी तरह दयाकी भीख!—निर्मलका जवाब सुननेके लिए वह व्याकुल रही।

निर्मलने कहा—"चाचीजी, पारोको तो मैं अब तक बहनकी तरह मानता आया हूँ; उसके साथ ब्याहकी बात सोचते ही मुझे हँसी आती है—इसके सिवा अभी तो मैं किसी तरह ब्याह कर भी नहीं सकता—"

द्रोपदी कुछ देर तक चुप रहीं। ओटमें खड़ी-खड़ी पारो मारे गुस्सेके काँपने लगी—इतने दिन बाद यह बात! वह तो बहुत दिन पहलेसे ही इस बातको जानता था। क्या ज़रूरत थी उसे इतने दिनों तक जियाये रखनेकी? पहलेसे कह देता तो क्या बिगड़ जाता।

पारोकी माने कहा—"बेटा, तुम ब्याह नहीं करते—तो कोई और लड़का देख दो—तुम्हारे तो बेटा, बहुतसे जान-पहचानके हैं, मेरे और है कौन बेटा, तुम्हीं लोग देख-भालकर बिटियाके पीले हाथ करा दो—"

पारो मन-ही-मन घुमड़ने लगी—हाँ, सो तो है ही, उनके 'ठीक किये-हुए' से तो मैं हरगिज़ ब्याह न करूंगी।

निर्मलने कहा—"देखूँगा कोशिश करके—"

निर्मल इलाहाबाद चला गया।

[४]

उसके बाद एक वर्ष बीत चुका, निर्मल देश न आया। परीक्षा देकर अपने भाई-भाभियोंके साथ वह हवा बदलने अलमोड़ा चला गया। अलमोड़ेमें ही उसे परीक्षामें पास होनेकी खबर मिल गई। उसने सीधे इलाहाबाद आकर बी० ए०में पढ़ना शुरू कर दिया। अब तो उसके मनसे बचपन और किशोरावस्थाका वह गांव बिलकुल ही धुल-पुछ गया। अब भला, रत्तो और पारोके लिए वहां स्थान कहां?

इस बीचमें, उस छोटेसे गाँवमें बहुत-कुछ परिवर्तन हो गया है। किसी दुजिया वरके साथ पारोका ब्याह हो गया—इस ब्याहमें उसकी राज़ी न थी, बहुत कहा-सुनी और लानत-फटकारके बाद वह मांड़े तक पहुँची थी। निर्मलको इसके लिए वह माफ नहीं कर सकी है। उसके किशोर मनपर एक बार जो छाप पड़ी थी, वह फिर उठी ही नहीं—निर्मल उसे भूल गया, पर वह निर्मलको नहीं भूल सकी; मगर यह बात कहे किससे—कहनेकी थोड़े ही है। वह भीतर ही भीतर घुलने लगी। पतिको वह 'अपना' सोच भी न सकी—अपनाना तो दूर रहा। पतिके साथ किसी तरहका बुरा बर्ताव न करनेपर भी वह उससे दूर-ही-दूर रहने लगी। ब्याहके बाद पहले-पहल जब वह सासुरेको गई, तब उसका मन वेदना और निराशासे अधपके फोड़ेकी तरह टीस मार रहा था। ससुरालमें दो ही दिन रहकर उसका दम घुटने लगा। रो-पीटकर वह माके पास आई शान्ति ढूँढ़ने; उसके बाद फिर वह सासुरेको नहीं गई। ससुरालको चिट्ठी-पत्री तक नहीं देती। उसके पतिकी काफी उम्र हो चुकी है—वे नई दुलहिन बालिका-स्त्रीकी इस विमुखताको लड़कपन जानकर विशेष नाराज़ नहीं हुए। "समय पाय तरुवर फरै, केतिक सींचौ नीर"—यह सोचकर वे चुप रहे।

रत्तोका भी ब्याह हो गया है, उसके पति तुर्त-पास डाक्टर हैं। रत्तोके मनमें निर्मलकी तरफसे कोई कांटा न था, इसलिए वह अपनी संगिनियोंके साथ हँसी-ठठोली करके आनन्दसे दिन बिताती है। पतिको लम्बी-लम्बी चिट्ठियां लिखती है और सखी-सहेलियोंमें इठलाती हुई पतिकी चिट्ठियां पढ़कर सुनाती फिरती है। रतन अब 'रत्तो' नहीं रही, पतिके संसर्गसे अब वह अपनेको 'रत्नलता' समझने लगी है।

ब्याहके बाद रतन निर्मल स्रोतस्विनीकी तरह कलकल करती हुई फिरती है—हँसी-ठठोली, किस्से-कहानी और गीतोंसे उसने चारों ओरका वायुमंडल भर दिया। एक दिन जैसे निर्मल-भइया उसके खेलनेकी सामग्री था, पतिको भी उसी तरह वह खेलनेकी चीज़ समझकर उससे खेलने लगी। उसकी

भीतरसे बड़ी तबीयत होने लगी--निर्मल-भइयासे 'उनकी' जान-पहचान करा दे।

परन्तु पारो, जहां तक उससे बन पड़ा, बाहरकी दुनियासे अपनेको अलग रखकर अपने मनके अथाह पानीमें डूबी रही—वह पहले ही की तरह अपने मनमें बैठी हुई स्वप्न रचती रही। वास्तविकताके आघातसे उसका वह स्वप्न बार-बार टूट जाता; मगर फिर भी वह उसे तोड़ने-बनानेमें ही लगी हुई है। वह चलती-फिरती है, खाती-पीती है, सब काम करती है, पर कहीं भी सँधिमेंसे उसके जीवनका परिचय नहीं मिलता।

[५]

अबकी दशहरेकी छुट्टियोंमें निर्मल जब घर आया, तो अपने मनको वह साथ न ला सका, उसे वह वहीं छोटी भाभीकी बहन लीलीके करकमलोंमें ही सौंप आया। लीली कालेजमें पढ़ती है। निर्मल और लीलीमें परस्पर शीघ्र ही एक अटूट और घनिष्ट सम्बन्ध हो जायगा—भाभियोंकी बातचीतसे यह बात लगभग स्पष्ट-सी हो चुकी है, और दोनोंको एक साथ घूमने-फिरनेका मौक़ा देनेमें भी भाभियोंकी तरफसे कोई कंजूसी नहीं की जाती थी। निर्मलके भाई-साहब भी इस विषयमें लीलीसे हँसी करनेमें नहीं चूकते थे। निर्मल जब कुछ दिनके वादेपर घर आने लगा, तो लीलीने उससे रोज़ एक चिट्ठी लिखनेकी कसम ले ली।

निर्मल अपने रंगीन स्वप्नके नशेमें चूर था, इसलिए गाँवमें आकर उसे कुछ परिवर्तन नहीं दिखाई दिया। रत्तो ससुराल चली गई है, पारो उसके सामने बहुत कम निकलती है। निर्मल यदि स्वाभाविक अवस्थामें होता, तो इस कमीसे उसका हृदय व्यथित होता; पारोकी व्यथा-भरी मूर्ति देखकर स्तम्भित हो जाता; परन्तु वह तब यौवनके स्वप्नमें चूर था—पार्वतीकी वेदनाकी ओर उसने देखा तक नहीं। वह समझ ही न सका कि अज्ञात रूपसे उसने एक बालिकाके जीवनको किस तरह तहस-नहस कर डाला है। निर्मलका आदर्श यदि किशोरावस्थामें पार्वतीके मनमें गुँथ न जाता, तो सम्भव है वह अपने इसी पतिके साथ और अनेकों लड़कियोंकी तरह आनन्दसे रहती और गिरस्ती सम्हालती; परन्तु अब तो निर्मलकी तुलनामें पतिकी उमर, स्थूल शरीर और जराग्रस्त मन इतना अधिक प्रकट हो उठता है कि सासुरेके नामसे वह सिहर उठती है। उसके छोटेसे मनमें निर्मलके सिवा और किसीके लिए स्थान ही नहीं रहा।

निर्मलकी इस तन्मयताको देखकर पारो ईर्ष्यासे जल उठी; पर अदृश्य शत्रुसे तो जूझा नहीं जा सकता; वह खुद ही अपनेमें घुल-घुलकर मरने लगी। पारो जब निर्मलके घर घूमने जाती, तो देखती—निर्मल अपनी कोठरीमें बैठा कभी कुछ लिख रहा है—कभी पढ़ रहा है—कभी चुपचाप बैठा है। रोगके लक्षणोंसे पारोने अन्दाज़ लगा लिया,—अपनी अज्ञात प्रतिद्वन्द्विनीको ढूँढ़ निकालनेके लिए उसका मनपर कटी चिड़ियाकी तरह तड़पने लगा। वह समझ रही थी कि निर्मल किसीकी चिट्ठीकी बाटमें चंचल रहता है, ऐसा मालूम होता है कि रोज़ वह किसीको चिट्ठी लिखता है। शामको निर्मल जब टहलने निकल जाता, तब वह मिश्रोंके घरपर जाकर, किताब लेनेके बहाने, निर्मलकी कोठरीमें 'कुछ' ढूँढ़ना शुरू कर देती।

इसी बीचमें पारोकी विदा कराने उसके पति आ गये। पारोका उधर कुछ ध्यान ही न गया। वह टेढ़ी पड़ गई; ससुराल तो वह जायगी ही नहीं।—लड़कीके बर्तावसे द्रौपदीके मनमें बड़ी ठेस लगी; मगर किसी भी तरह लड़कीको वे समझा ही न सकीं।

निर्मलने पारोके पतिके साथ पहले ही दिन खूब घनिष्ठता कर ली। आदमी तो अच्छा है—गृहस्थको जैसा होना चाहिए।

दूसरा दिन बीत गया; मगर पारो पतिके पास तक न फटकी। द्रौपदीने बुरी-भली सुनाई, समझानेकी कोशिश की, रोई-बिलखी भी—पर पारो टससे मस न हुई। कोई

उपाय न देख माने निर्मलकी शरण ली, उन्हें मालूम था—पारो निर्मलकी बात ज़रूर मानेगी।

निर्मल आया, सारी कथा सुनकर ज़रा मुसकराया, बोला—"अभी लड़की ही ठहरी, चाचीजी,—शरमसे ऐसा कर रही है, तुम इतनी घबराती क्यों हो ?"

द्रोपदीने करुण स्वरमें कहा—"बेटा, घबराती क्या यों ही हूँ, फूटे-भाग्यकी क्या नसीब लेकर आई थी ! पड़ी तो दूजियाके पल्ले है ; इसपर अगर दमादका मन फट जाय तो उसकी क्या गत होगी, सोचो तो ज़रा ! कैसा भी हो, है तो आदमी ही—कितना सहेगा बेचारा ! करम-फुटीने मेरे तो प्राण ले लिये। तुम बेटा, एक दफे समझा-समझाकर देखो, शायद मान जाय।"

निर्मलने पूछा—"है कहाँ पारो ?"

द्रोपदीने सामनेकी कोठरीकी ओर इशारा करके कहा—"उस घरमें ज़मीनपर पड़ी-पड़ी करमको रो रही है।"

काफी रात हो चुकी थी, दामाद खा-पीकर सो गया था। पारो आज दिन-भर उस कोठरीसे नहीं निकली है, चुपचाप उसी कोठरीमें बैठी है, न जाने किसके लिए क्या कर रही है, विषादकी जैसे मूर्ति ही हो। यह लड़कपन करके अपने आप वह कैसी शरममें पड़ी है कि कुछ कहनेकी नहीं।

निर्मल कोठरीमें पैर रखते ही चौंक पड़ा, घरके कोनेमें एक दिया जल रहा था,—उसके धुँधले-से उजालेमें उस स्तब्ध मूर्तिकी तरफ देखकर निर्मल दंग रह गया। बोला—"पारो, यह क्या कर रही हो ! लड़कपन मत करो,—देख तो तेरी माने तेरे लिए दिन-भर कुछ खाया-पीया नहीं है, रोते-रोते उनकी क्या हालत हो गई है। उठो, चलो, खा-पीकर जगन्नाथ बाबूसे भेंट करो, चलो।"

जगन्नाथ बाबू पार्वतीके पति हैं।

पारोने एक बार गरदन उठाकर निर्मलकी ओर निहारा—स्थिर निश्चल मूर्ति थी ! वह न जाने क्या कहना चाहती थी—ओठ दोनों काँप उठे—मुँहसे बात न निकली।

निर्मलने उसके पास जाकर उसका हाथ थामा, पारो बिजलीकी तरह चटसे उठकर खड़ी हो गई, निर्मलकी ओर आँखें फाड़-फाड़कर एक बार देखा—उस दृष्टिसे बहुत दिनोंका रुका हुआ अभिमान फटा पड़ता था।

उसने दृष्टि नीची करके आवेगसे काँपते हुए कंठसे फिर कुछ कहना चाहा, पर मुहसे बोल न निकला।

कुछ देर स्तब्ध रहकर फिर उसने निर्मलकी ओर देखा—भीतरके प्रबल द्वन्द्वने उसकी शान्त मुखश्रीपर एक तरहकी उग्रता ला दी थी। उसकी आँखोंसे मानो चिनगारियाँ सी निकलने लगीं—"अच्छा, मैं जाती हूँ"—कहकर वह धीर गंभीरभावसे घरसे बाहर निकल आई।

निर्मल हक्काबक्का-सा वहां-का-वहीं खड़ा रह गया। उसके मनमें अतीतकी स्मृति जाग उठी—बहुत दिनोंके भूले हुए कैशोरके मधुर स्वप्न फिरसे उसकी आँखोंके सामने रंगीन होकर दिखलाई देने लगे। एक ही क्षणमें उसकी समझमें आ गया कि किस तरह उसने अपनेको वंचित किया है—पर "अब पछताये होत का ?—"

निर्मल कई दिन तक लीलीको चिट्ठी न लिख सका।
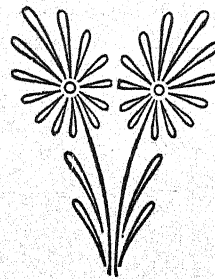
उड़ीसाके मन्दिर

उड़ीसाके मन्दिरोंका स्थापत्य-शिल्प प्रसिद्ध है। आषाढ़के 'प्रवासी'में श्रीयुत निर्मलकुमार वसुका इस विषयमें एक लेख प्रकाशित हुआ है। वसु महाशय लिखते हैं—एक तरफ समुद्र और दूसरी ओर पर्वतोंसे सुरक्षित होनेसे उड़ीसा बहुत दिनों तक क्षात्र-शक्तिका एक मुख्य केन्द्र बना रहा। गंगासे लेकर गोदावरी तक भूखंड उड़ीसाके गंगवंशके अधीन था, और उन्हींके लूटे हुए धन-सम्पदसे बहुत दिनों तक उड़ीसा शिल्पकलाका एक केन्द्र बना रहा। सारा आर्यावर्त जब मुस्लिम सभ्यताके प्रभावसे प्रभावान्वित हो गया था उसका शिल्प, विद्या और कला जब लुप्तप्राय हो चली थी, तब उत्तर-भारतके शेष सीमान्तमें उड़ीसा प्राचीन हिन्दू आचार-व्यवहार आदिका आश्रयस्थल बन गया था।

उड़ीसाके प्राचीन मन्दिर और शिल्पकार प्रसिद्ध हैं।
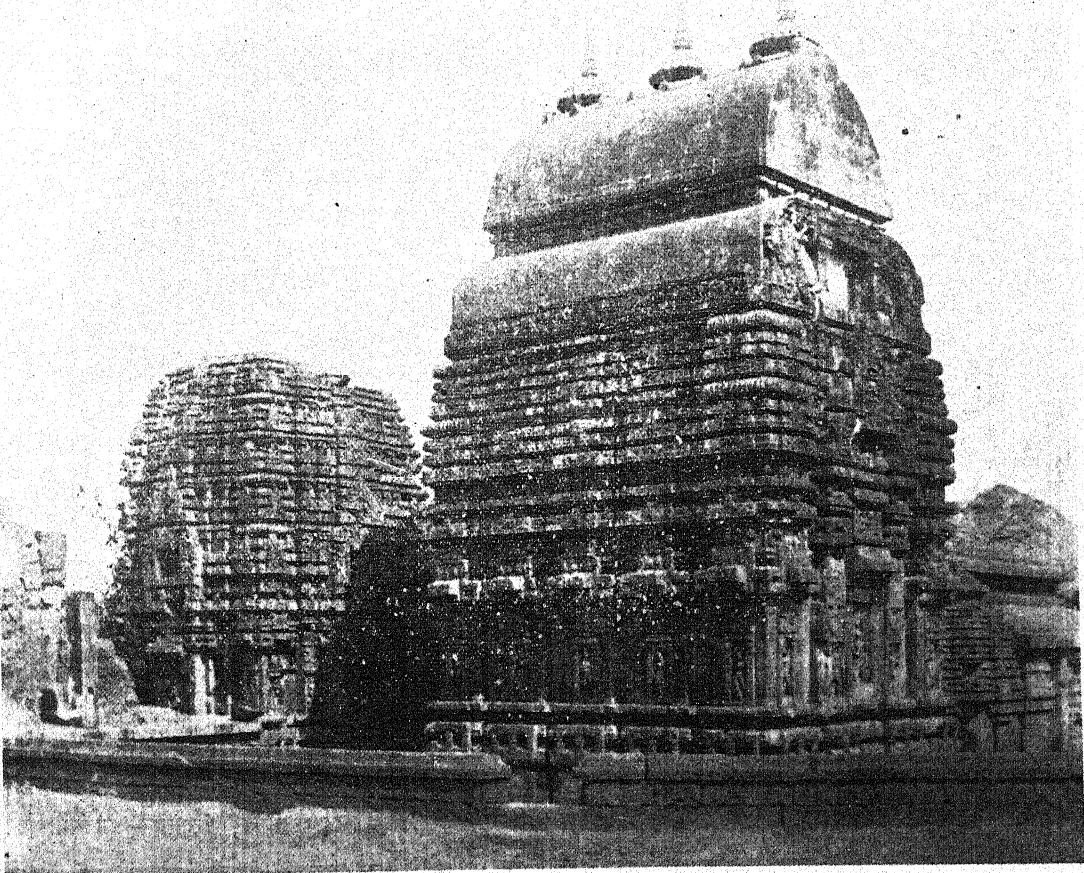
भुवनेश्वरका खाखरा-जातीय वैताल-मंदिर
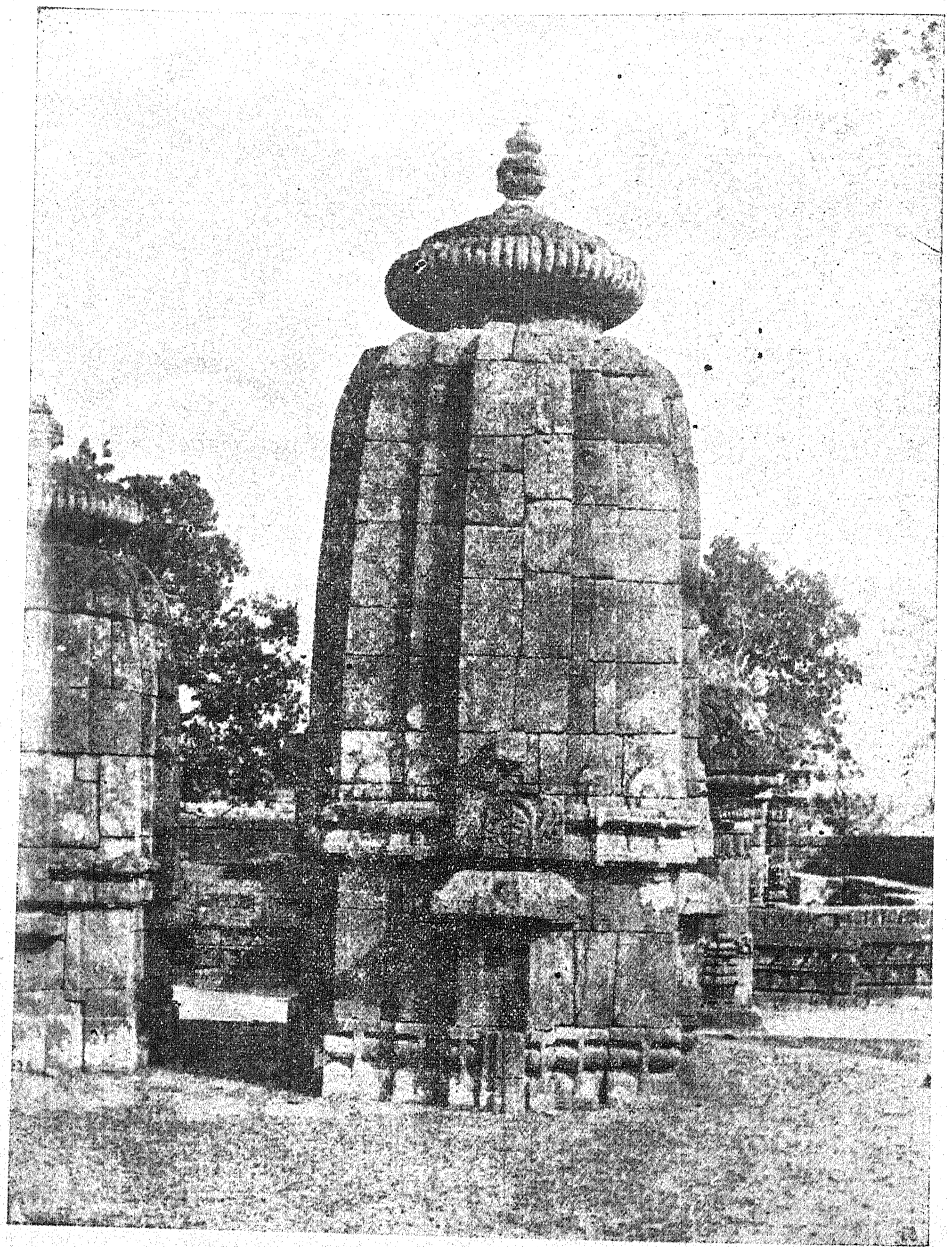
भुवनेश्वरका एक छोटा रेख-मंदिर

उन शिल्पकारोंके वंशधरोंके पास प्राचीन स्थापत्य-विद्याके विषयमें ताड़पत्रपर लिखी हुई बहुतसी पोथियाँ मौजूद हैं। शिल्पकार अपनी इस जातीय विद्याको आसानीसे किसीको जानने नहीं देते थे, इसीलिए शिल्प-विद्याके खास-खास विषय—जैसे, पत्थर किस तरह चुने जाते हैं, उन्हें जोड़ा किस तरह जाता है, इत्यादि—इन सब बातोंको वे पोथियोंमें न लिखकर अपनी सन्तान या शिष्योंको कार्यक्षेत्रमें व्यावहारिक शिक्षा देते थे। सिर्फ वे ही

विषय, जिनका भूल जाना सम्भव है—जैसे विभिन्न सम्प्रदायके मन्दिरोंमें क्या भेद है, प्रत्येकके विशिष्ट लक्षण आदि—पोथियोंमें लिखकर उन्हें छिपाकर रख देते थे, इसलिए बहुत परिश्रमसे उन पोथियोंका संग्रह करनेपर भी हम शिल्पके व्यावहारिक अंगोंके विषयमें विशेष कुछ जान नहीं सकते। और जो कुछ लिखा मिलता भी है, वह सूत्रकारके सूत्रके समान होनेसे बिना पारदर्शी शिल्पकारकी सहायताके उसका समझना मुशकिल है। फिर भी, ऐसे ही कुछ प्राचीन और छिन्नपत्र शिल्पशास्त्रोंपर से जीवित शिल्पकारोंकी सहायतासे उड़ीसाके स्थापत्य-शिल्पका बारह आना अंश उद्धार किया गया है, यह सन्तोषकी बात है।

उड़ीसामें मुख्यतः चार प्रकारके मन्दिरोंका प्रचलन था—(१) रेख-मन्दिर, (२) भद्र-मन्दिर, (३) खाखरा-मन्दिर और (४) गौड़ीय मन्दिर। इनमें रेख-मन्दिरका लक्षण है—आसन (Ground plan) चौकोन यानी लम्बाई और चौड़ाई बराबर। ऐसे आसनपर नीचेसे कुछ दूर तक खड़ी दीवार
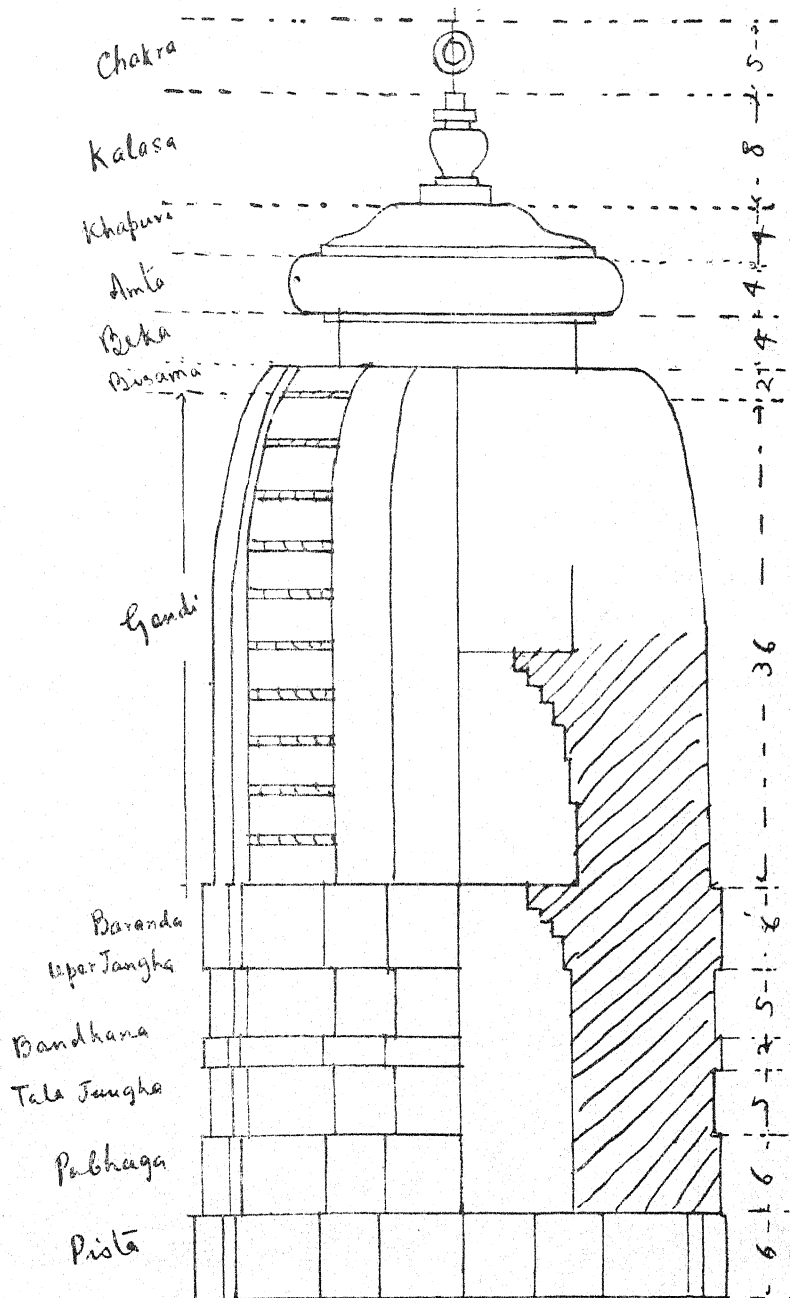
रेख-मन्दिरकी बनावट

और उसके बाद क्रमशः भीतरकी ओर झुकी हुई दीवार होती है। जब दीवार खूब ऊँची हो जाती है, तब चारों ओरकी दीवारपर पत्थर रखकर उसे पाट दिया जाता है। फिर उसके ऊपर मनुष्यके गलेके समान मन्दिरका गला बनाया जाता है और गलेके ऊपर एक बड़ी-भारी, गोलाकार चपटी शिखर-सी बनाई जाती है, जिसे वहाँ 'आँला' कहते
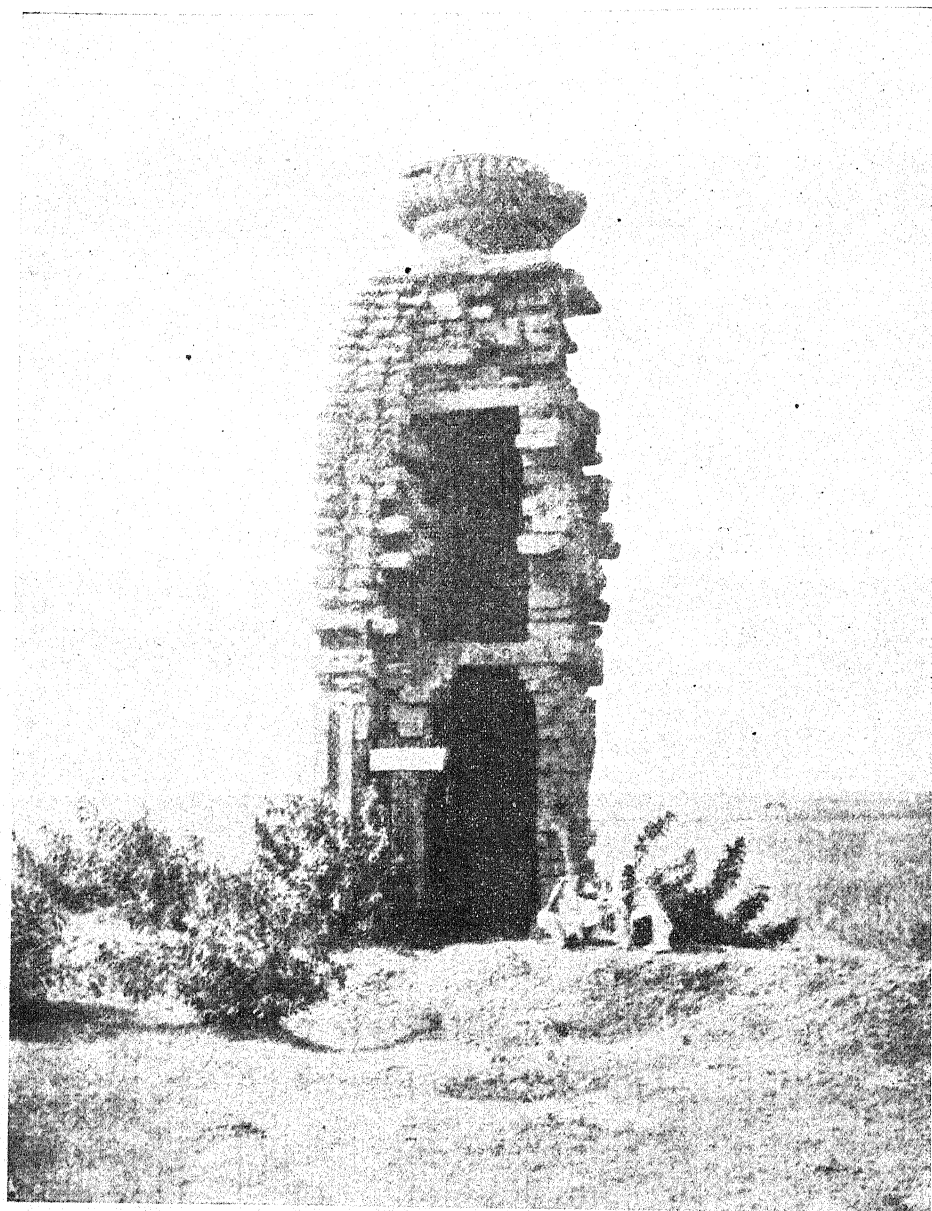
मानभूमि जिलेके तेलकुपी गांवमें एक टूटाफूटा रेख-मंदिर

हैं। 'अँला' के ऊपर घंटी, घंटीके ऊपर कलश और उसके ऊपर देवताका आयुध बिठाया जाता है। यही रेख-मन्दिरका साधारण स्वरूप है, जैसा कि चित्रमें दिया गया है।

रेख-मन्दिर सिर्फ उड़ीसामें ही हों, सो बात नहीं। बंगालमें वीरभूमि और वर्धमान, अर्थात् राढ़ देश और बिहार—मानभूमि और गया आदि—में भी रेख-मन्दिर पाये जाते हैं। हाँ, वहाँके मन्दिर बिलकुल उड़ीसाके मन्दिरोंके सदृश ही हैं, यह बात नहीं कही जा सकती। देश-काल अनुसार कुछ भेद ज़रूर है, परन्तु प्रभेदकी अपेक्षा सामंजस्य
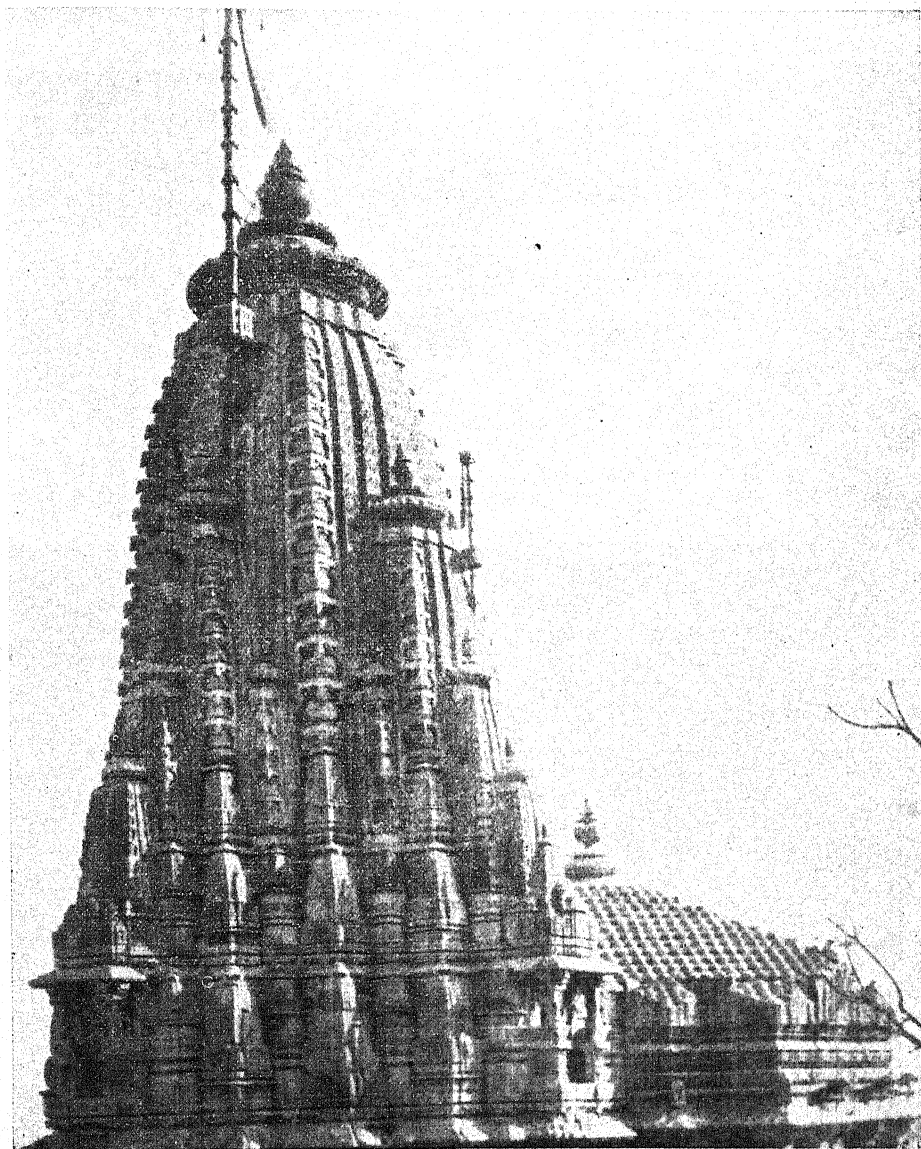
उदयपुरका जगदीश-मंदिर

ही अधिक है। बिहार और बंगालके सिवा मध्यभारतके बुन्देलखंड और बघेलखंडमें, भूपाल राज्यमें, युक्तप्रान्तके विन्ध्याचलमें, उत्तर-भारतके कांगड़ा उपत्यकामें तथा बदरीनारायणके मार्गमें भी जगह-जगह रेख-मन्दिर देखनेमें आते हैं। और भी पश्चिममें चले जाइये, राजपूतानाकी मरुभूमिमें—जोधपुरके पास ओसियाँ गाँवमें—बहुतसे रेख-मन्दिर मौजूद हैं। इस तरह किसी समय समस्त आर्यावर्त-भरमें रेख-मन्दिरकी निर्माण-कला फैल चुकी थी, जिसके काफ़ी प्रमाण मिलते हैं। अन्य प्रदेशोंके रेख-मन्दिर साधारणतः उड़ीसाके समान आकृति-विशिष्ट होनेपर भी उनकी बनावटमें,

भुवनेश्वरका राजा-रानी मंदिर
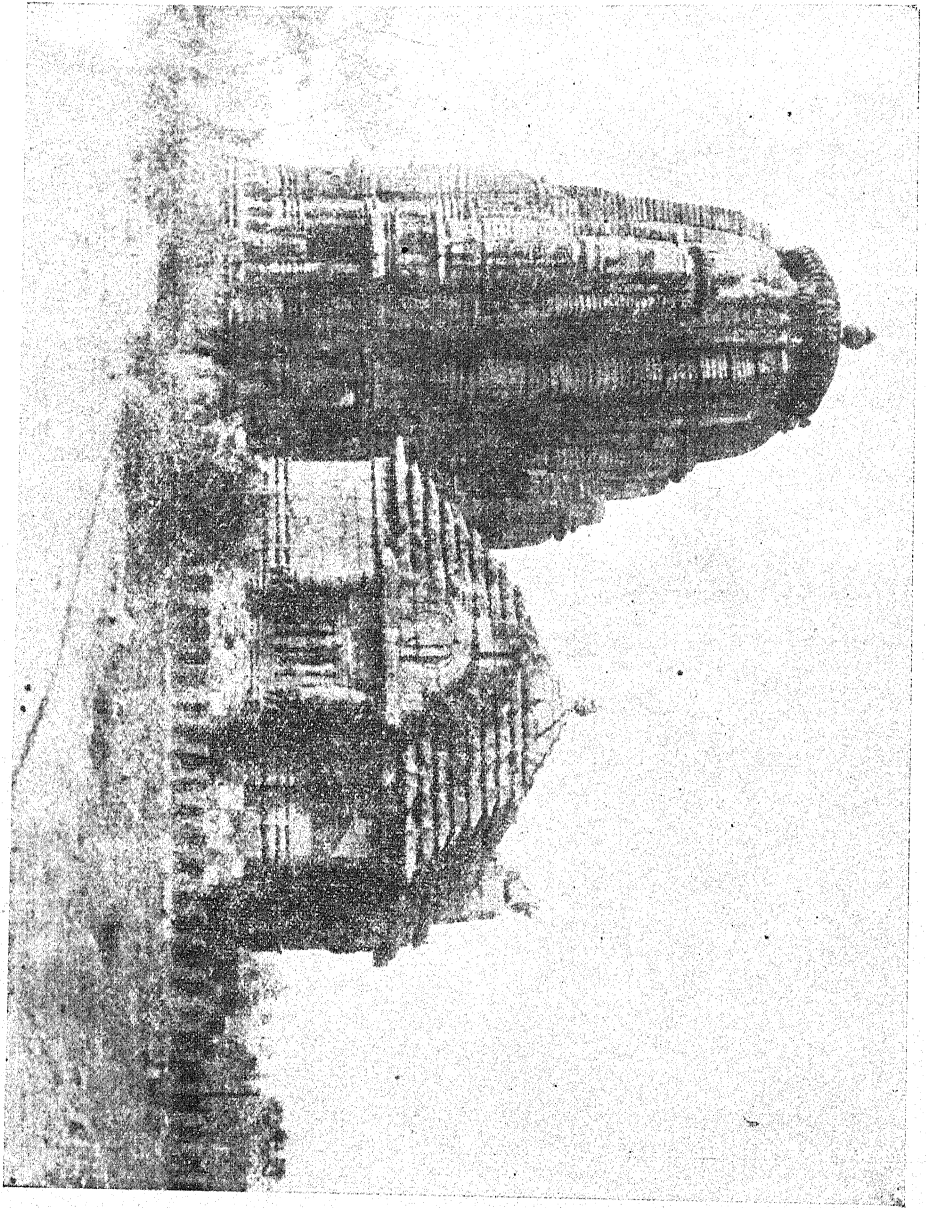
भीतरके भाव और सजावटमें स्थानीय विशेषता अवश्य है। कुछ भी हो, रेख-मन्दिरके इतिहास-सूत्रमें उड़ीसाको हम आर्यावर्तके साथ संयुक्त ज़रूर पाते हैं।

उड़ीसाके रेख-मन्दिरके आधारपर विभिन्न प्रदेशके शिल्पकारोंने अनेक प्रकारके भाव प्रदर्शित किये हैं, इसमें सन्देह नहीं। उनकी कल्पनामें रेख-मन्दिर एक खड़े हुए पुरुषके समान है। मन्दिरके विभिन्न अंशोंके नामकरण भी उसीके अनुसार किये गये हैं। सबसे नीचेके भागको पाद, उसके ऊपरके भागको जंघा, बीचके भागको गंडी (शरीरका बीचका भाग), उसके ऊपरके भागको गला और मस्तक आदि कहते हैं।

रेख-मन्दिरके सामने, जहाँ यात्रियोंके बैठनेके लिए स्थान
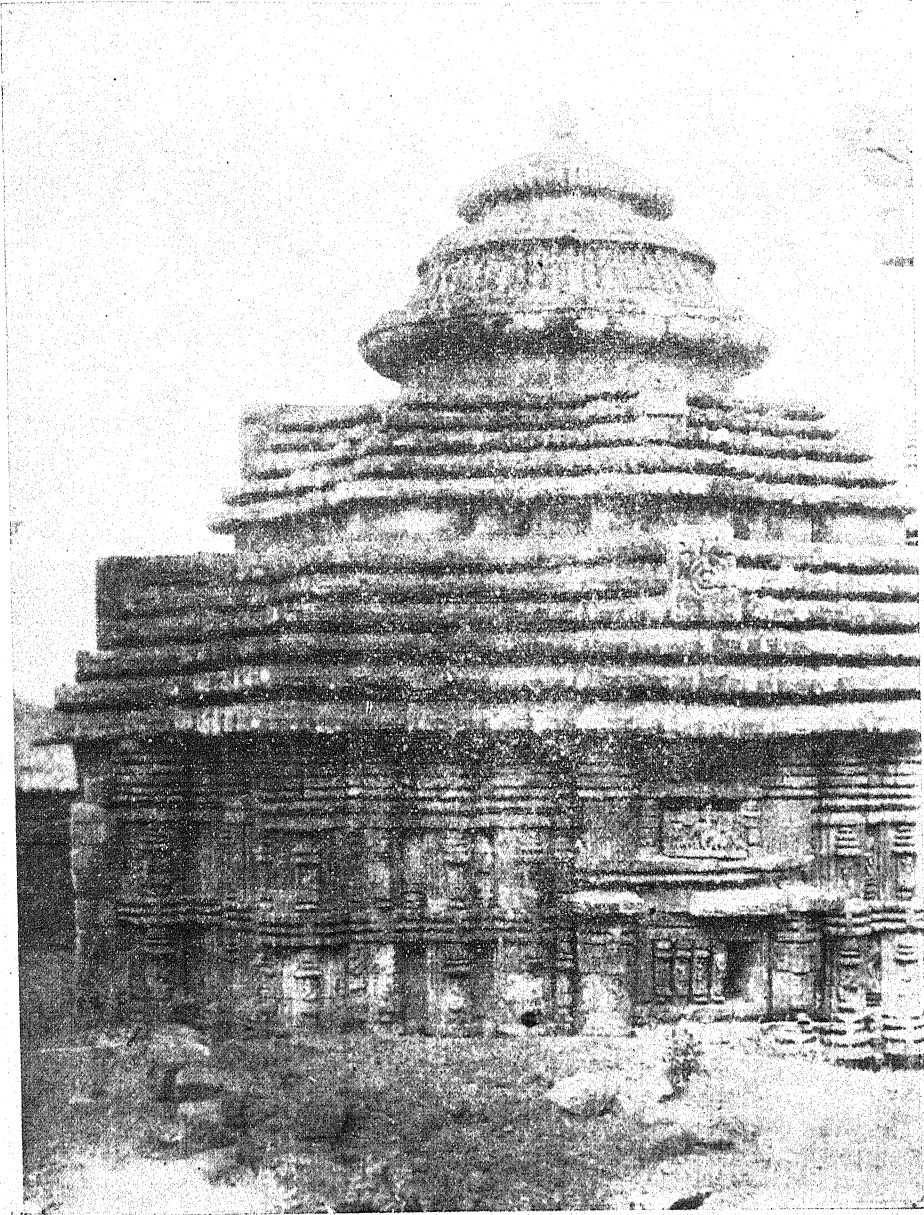
भुवनेश्वरका स्तर-मंदिरसे संयुक्त भद्र-मंदिर

होता है, उसकी बनावट रेख-मन्दिरकी बनावटसे पृथक् है। शिल्पकारगण इस प्रकारके पिरामिडकी भाँतिके त्रिकोण छतदार मन्दिरोंको रेख-मन्दिरकी तुलनामें स्त्री-जातीय बतलाते हैं।

भद्र-मन्दिरोंका नीचेका अंश रेख-मन्दिरके समान होता है, परन्तु सीधी खड़ी दीवारके खतम होनेपर मन्दिर ऊँचे बाँसकी तरह कुछ टेढ़ा न होकर झुका हुआ पिरामिडकी तरह होता है। इसको भद्र-मन्दिरकी गंडी या
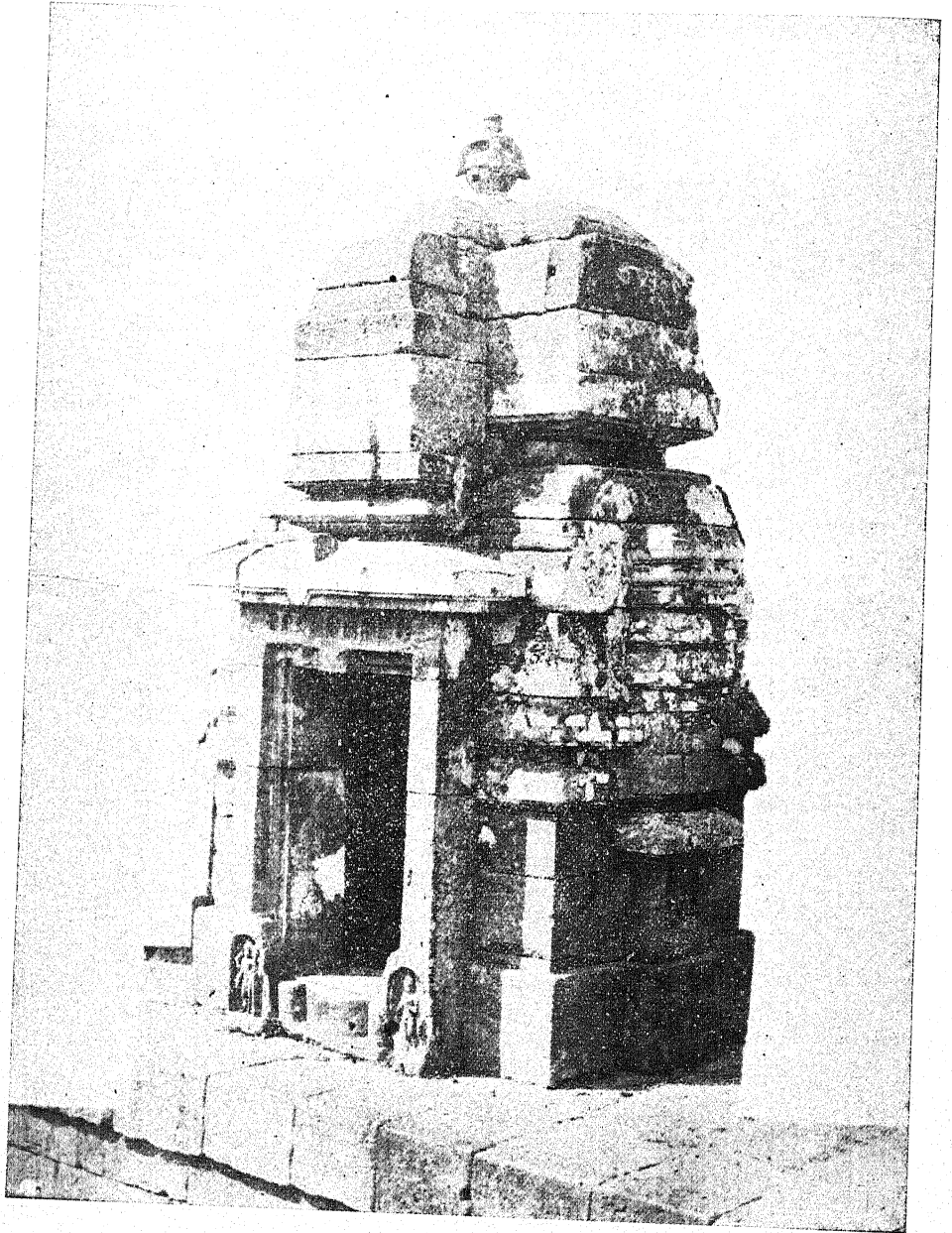
भुवनेश्वरका एक छोटा खाखरा-मंदिर

भद्रगंडी कहते हैं। भद्रगंडीके अनेक स्तर होते हैं—जैसा कि चित्रमें देखेंगे—शास्त्रीय विधिके अनुसार सबसे ऊपरके स्तरकी लम्बाई चौड़ाई सबसे नीचेके स्तरसे आधी होती है, और उसके ऊपर भद्रगंडीका मस्तक होता है।

उड़ीसामें जितने पुराने देव-मन्दिर हैं, उतने पुराने भद्र-मन्दिर नहीं हैं। पहले सिर्फ रेख-मन्दिर ही बनाये जाते थे, सामने खुला दरवाज़ा रहता था। रेख-मन्दिरका भीतरी भाग बड़ा नहीं होता, इसीलिए पहले-पहल यात्री लोग शायद बाहरसे ही मूर्तिके दर्शन करते थे। पीछे इस दिक्कतको दूर करनेके लिए पत्थरका एक लम्बा आयत-मन्दिर बनाया
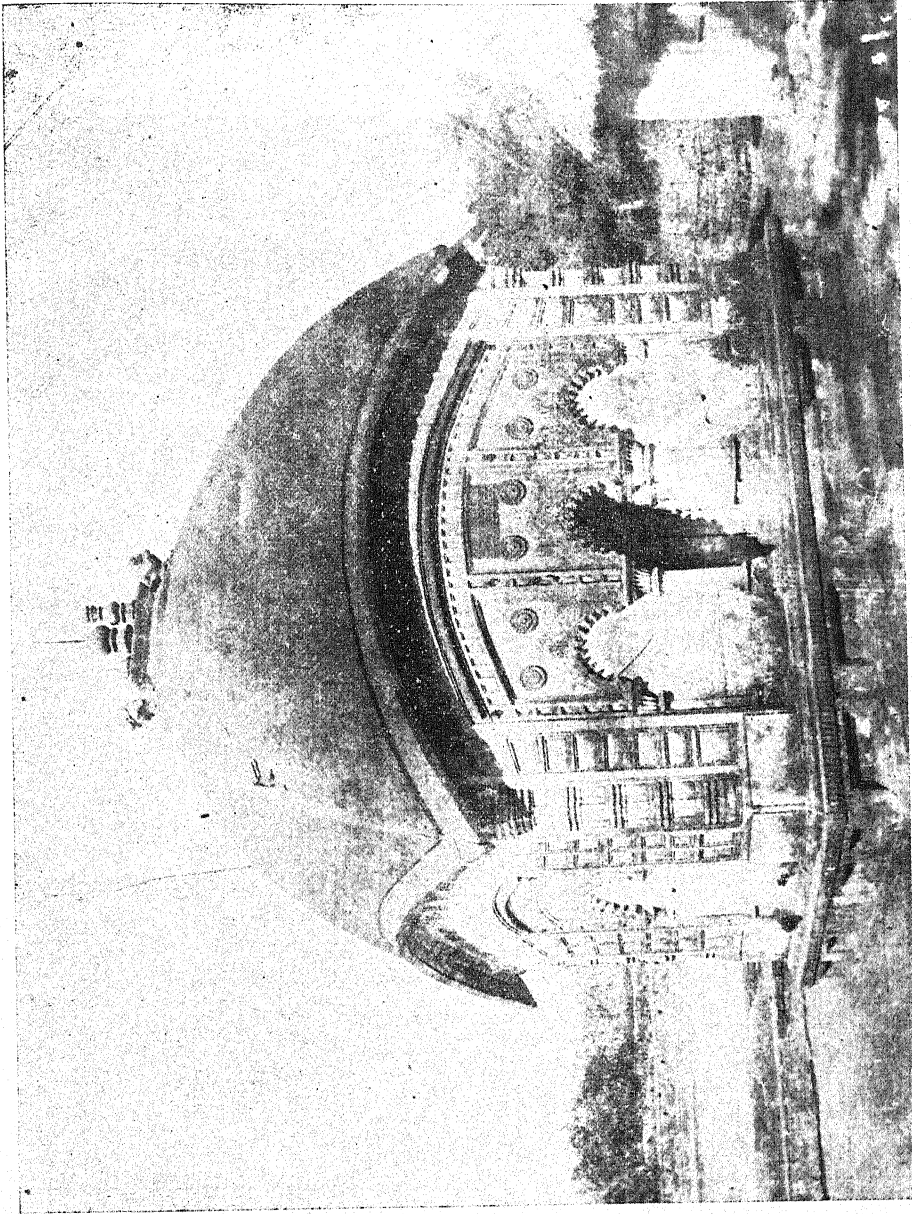
पुरीमें मार्कण्डेय सरोवर-तटका गौड़ीय मंदिर

जाता था। उसके कुछ समय बाद चौकोन और भद्रगंडी-विशिष्ट भद्र-मन्दिर बनने लगा। फिर धीरे-धीरे रेख-मन्दिरके साथ-साथ एक या दो भद्र-मन्दिर बनवानेकी परिपाटी-सी हो गई।

उड़ीसाके सिवा एक मानभूमिमें और एक राजपूतानेके ओसियाँ ग्राममें भद्र-मन्दिर है। मानभूमिमें जो भद्र-मन्दिर है, उसकी 'गंडी' या कटि पिरामिडके समान होनेपर भी उड़ीसा या ओसियाँके भद्र-मन्दिरके समान वह स्तर-विशिष्ट (जैसा कि भुवनेश्वरका भद्र-मन्दिर है) नहीं है। इससे अनुमान होता है कि पिरामिडके आकारकी छत और स्तरोंकी उत्पत्ति विभिन्न समयमें या विभिन्न प्रदेशोंमें हुई थी। बंगालमें रेख-मन्दिर जैसे मन्दिरोंकी कटि साधारणतः स्तरोंवाली
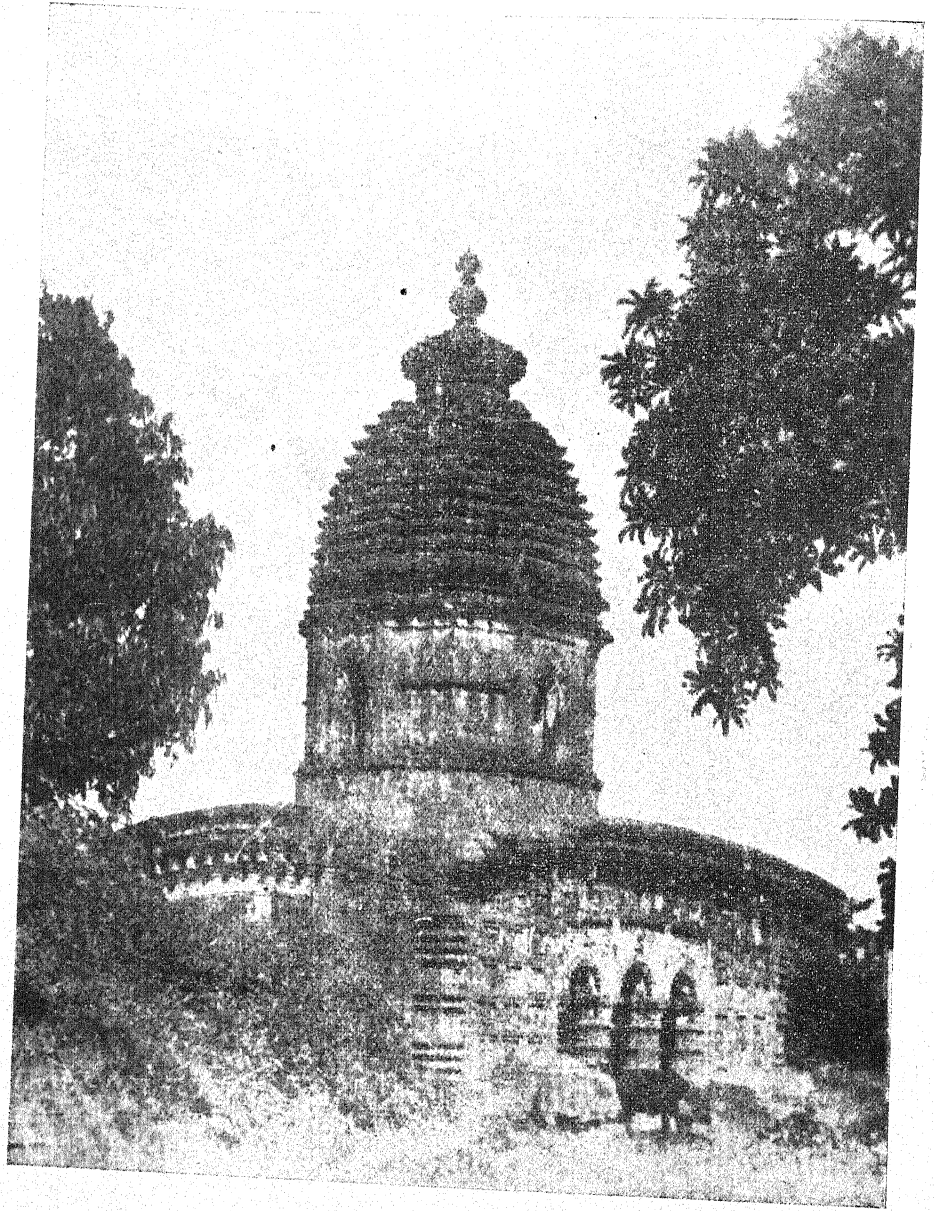
विष्णुपुरका रेख और गौड़ीय संमिश्रित मंदिर

होती है, यह बात भी हमारे अनुमानकी पुष्टि करती है; परन्तु पिरामिड-आकृति किस देशसे आई और उड़ीसामें कैसे उसका इतना प्रचार हुआ, इस बातका अभी तक पता नहीं चला है।

भद्रके बाद शिल्पशास्त्रमें हम खाखरा-मन्दिरका उल्लेख पाते हैं। खाखरा-मन्दिरका आसन चौकोन होता है। दीवार रेख-मन्दिरके समान होती है और गंडी या कटि स्तर-विशिष्ट, जो कुछ तो रेख-गंडीके समान और कुछ भद्र-गंडीके समान भी हो सकती है। गंडीके ऊपर खाखरा नामक एक विशेष आकृति होती है, जैसा कि चित्रमें है।

खाखरा-मन्दिर उड़ीसामें बहुत कम हैं। केवल भुवनेश्वरमें चार-पाँच हैं, और कहीं नहीं मिलते। शिल्पशास्त्रमें खाखरा-जातिके मन्दिरोंमें द्राविड़ी, विराटी आदि कई विशेष रूपोंका उल्लेख है। द्राविड़ देशमें मन्दिर भी चौकोन आसनवाले होते हैं, और उनपर खाखराके अनुरूप—किन्तु उंचाईमें उससे बहुत छोटा—एक अंश होता है। इन सब कारणोंसे ऐसा मालूम पड़ता है कि खाखरा-मन्दिर द्राविड़ी-मन्दिरका उड़ीसा-संस्करण है।

खाखराके बाद गौड़ीय मन्दिरका उल्लेख है। इसके नामसे ही इसकी उत्पत्तिका इतिहास मिल जाता है। उड़ीसामें गौड़ीय मन्दिर बिरले ही हैं। सिर्फ एक पुरीमें, उत्तरकी तरफके मठके द्वारपर, और मार्कण्डेय-सरोवरके किनारे वर्धमान-महाराज कीर्तिचन्द्रकी माता द्वारा निर्मित एक मन्दिरमें गौड़ीय शैलीका व्यवहार पाया जाता है। उड़ीसामें गौड़ीय स्थापत्य शिल्प अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सका,' इसका कारण वहाँ पहलेसे ही विशाल प्रस्तर-रचित ऊँचे मन्दिरोंका प्रचलन है। इसीलिए गौड़ीय स्थापत्य-शिल्प उड़ीसाको कुछ दे न सका और न देने योग्य उसके पास कुछ था ही।

क्या कवि-सम्मेलन बन्द किये जायँ ?

आजकल कवि-सम्मेलनोंकी जो दुर्दशा हो रही हैं वह किसी साहित्यिकसे छिपी नहीं है। अब कवि सम्मेलनोंका नियन्त्रण अनिवार्य हो गया है। इस नियन्त्रणके लिए हमने लगभग दो वर्ष पहले कुछ प्रस्ताव किये थे। यहाँपर हम अपने उन प्रस्तावोंको पुनः उपस्थित करते हैं :—

(१) वे सब कविताएँ, जो कवि-सम्मेलनोंमें पढ़ी जानेवाली हों, कम-से-कम एक दिन पूर्व कवि-सम्मेलनके सभापतिके पास पहुँच जायँ।

(२) सभापति महोदय चार-पाँच कवियोंकी सहायतासे उन कविताओंमें से पठनीय कविताओंको चुन लें।

(३) केवल स्वीकृत कविताएँ ही पढ़ी जा सकें। किसी भी हालतमें ऐसी कविताको, जिसे सभापतिने न देखा हो, पढ़नेकी आज्ञा न दी जाय।

(४) इस बातका खयाल रखा जाय कि कोई कवि महोदय जनताका समय खराब न करने पावें।

(५) साम्प्रदायिकतासे युक्त कोई कविता पढ़नेकी आज्ञा न दी जाय। कोई भी ऐसी कविता, जो बहन-बेटियों या छोटे बच्चोंके सम्मुख पढ़नेके योग्य न हो, स्वीकृत न की जाय। सर्वसाधारणके समक्षमें न आनेवाली कविताएँ यथासम्भव न रखी जायँ।

(६) पुरस्कार तथा पदककी प्रथा बिलकुल हटा दी जाय।

(७) समस्या-पूर्ति कवि-सम्मेलनका एक गौण भाग रहे। स्वतन्त्र कविताओंको महत्त्व दिया जाय।

(८) प्राचीन कवियोंकी चुनी हुई कविताओंका भी पाठ किया जाय।

(९) जनताको यह पहलेसे बतला दिया जाय कि वह संयमपूर्वक रहे; हर्षध्वनि इत्यादिमें किसी प्रकारके अनौचित्यका सहारा न ले।

(१०) कवियोंके आगत-स्वागत, ठहराने, बिठलाने, मार्ग-व्यय देने इत्यादि बातोंको बड़े ध्यानपूर्वक और ऐसी खूबीके साथ किया जाय, जिससे किसी तरह उनके स्वाभिमानको चोट न पहुँचे।

(११) दर्शकोंके लिए टिकट रखे जायँ। टिकटोंका मूल्य भले ही कुछ न रहे, पर भीड़के नियंत्रणके लिए टिकट होना ज़रूरी है।

ये बातें हमने अनेक कवि-सम्मेलनोंको देखनेके बाद लिखी हैं। खेदके साथ यह बात हमें स्वीकार करनी पड़ेगी कि हमारे अनेक कवि कहलानेवाले सज्जनोंमें साधारण जनताकी मनोवृत्तिको पहचाननेका माद्दा बिलकुल नहीं पाया जाता। लम्बे-लम्बे कागज़ोंपर पोथेके पोथे लिख डालते हैं,

और फिर इस बातका आग्रह करते हैं कि जो कुछ उन्होंने लिखा है, वह सब सुन लिया जाय।

कुछ कवि लोग यह कहनेमें अपनी शान समझते हैं कि हमें अमुक कारणसे समय ही न मिला और हमने यह कविता अभी-अभी आते-आते लिखी है। कुछ उन आर्यसमाजी भजनीकोंकी नक़ल करते हैं, जो व्याख्यानदाताके भावोंको भद्दे पद्योंमें उल्था करके 'आशु-कवि' की उपाधि प्राप्त करना चाहते हैं। कभी-कभी तो ऐसी व्यक्तिगत असभ्यता-पूर्ण बातें कही जाती हैं कि उन्हें सुनकर लज्जित होना पड़ता है। यदि कवि लोग ही अपने आचरणसे अशिष्टता प्रकट करेंगे, तो हमारी संस्कृतिका अध:पतन अवश्यम्भावी है। मालूम नहीं कि अन्य प्रान्तीय भाषा बोलनेवालोंपर, जो हमारे कवि-सम्मेलनोंमें सम्मिलित हुआ करते हैं, इसका क्या प्रभाव पड़ता होगा।

सर्वसाधारणके समयका खयाल रखनेकी बड़ी आवश्यकता है। मान लीजिए कि चार-पाँच घंटे तक कवि-सम्मेलन हुआ और दर्शकोंकी संख्या १००० भी हुई, तो सर्वसाधारणके चार-पाँच हज़ार घंटोंका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग सभापतिके हाथमें होता है। सभापतिका कर्तव्य है कि वह इस बातको कदापि न भूलें।

साम्प्रदायिकतासे पूर्ण कविता तो कदापि न पढ़ी जानी चाहिए। एक ओर तो हम यह आशा करते हैं कि मुसलमान लोग हिन्दीको अपनावें और दूसरी ओर 'डाढ़ीके रखैयनकी दाढ़ी-सी रहति छाती' के सदृश भावोंकी कविता पढ़ते हैं!

हिन्दीके लिए मुसलमानोंने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। और कुछ नहीं, तो कृतज्ञताके लिहाज़से हमारा यह कर्तव्य है कि हम कोई भी साम्प्रदायिक बात कवि-सम्मेलनोंमें न लाने दें। कविताके 'कामन प्लेटफार्म' को इस तरह कलंकित करना राष्ट्रीयताकी जड़पर कुठाराघात करना तो है ही, पर साथ-ही-साथ अव्वल दर्जेकी कृतघ्नता भी है।

जिस ढंगसे पुरस्कार और पदक कवि-सम्मेलनोंमें दिये जाते हैं, या यों कहिए कि उनके दिये जानेकी घोषणा की जाती है, वह वास्तवमें अनुचित है। जिनके पास धन है, और जो उसके द्वारा किसी कवि-विशेषकी सेवा करना चाहते हैं, उन्हें यह पूर्ण अधिकार है कि वे प्राइवेट तौरपर ऐसा करें। दुनियामें उसका ढिंढोरा पीटनेकी क्या ज़रूरत है? 'अमुक सेठजी पचीस रुपये इस विषयकी सर्वोत्तम कवितापर देंगे', इस प्रकारकी घोषणा करनेवालोंको यह जानना चाहिए कि वे कवि-सम्मेलनमें बैठे हैं, पहलवानोंके दंगलमें नहीं।

कवि-सम्मेलनमें बड़े-से-बड़ा धनाढ्य भी छोटे-से-छोटे कविसे अधिक उच्च पदका अधिकारी नहीं। आखिर सरस्वतीके पुजारियोंके लिए कोई जगह तो ऐसी होनी चाहिए, जहाँ वे स्वाभिमानपूर्वक यह कह सकें कि यह तो हमारा स्थान है। हम तो इस नियमके पक्षमें हैं कि कवि-सम्मेलनोंमें मंचपर केवल कवि ही बिठलाये जावें, शेष सब—चाहे वे लखपती हों या करोड़पति—दर्शकोंमें बैठें। वृद्ध कवियोंका ऐसे मौक़ोंपर खास तौरसे खयाल रखना चाहिए। ये लोग हमारे पूर्वज हैं और उन्होंने हमारे मार्गको प्रशस्त किया है, इसलिए किसी भी हालतमें उनके दिलमें यह खयाल न आने देना चाहिए कि हमारी उपेक्षा की जा रही है।

एक बात और भी देखनेमें आई है कि कितने ही आदमी पदक और पुरस्कारकी घोषणा तो कर देते हैं, पर पीछे एक फूटी कौड़ी भी नहीं देते। कोई किसी मित्रको उत्साहित करनेके लिए ही घोषणा कर देते हैं। कौन कविता बुरी है, कौन अच्छी, इसकी जाँच प्रत्येक श्रोताकी व्यक्तिगत रुचिपर नहीं छोड़ी जा सकती। ऐसा करनेसे सत्कवियोंके साथ अन्याय होनेकी सम्भावना है।

हमारे कथनका सारांश यह है कि कवि-सम्मेलन यदि किये जायँ, तो काफ़ी नियंत्रणके साथ किये जावें। साधारण जनताका उनसे मनोरंजन होता है, और वे वास्तवमें अत्यन्त उपयोगी बनाये जा सकते हैं, पर हमें यह बात खेदपूर्वक स्वीकार करनी पड़ेगी कि कवि-सम्मेलनोंका वर्तमान रंग-ढंग साहित्यिक दृष्टिसे और कवियोंके लिए भी गौरवजनक नहीं।

यदि हम कवि-सम्मेलनोंका यथोचित नियंत्रण नहीं कर सकते, तो उससे तो यही उत्तम है कि वे बन्द कर दिये जायँ।

चिट्ठी-पत्री

आर्यसमाजकी वर्तमान दशा

'विशाल-भारत'के किसी विगत अंकमें आपका एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें आर्यसमाजकी वर्तमान दशापर अच्छा प्रकाश डाला गया है, और आर्यसमाजके कार्यकर्त्ताओंका ध्यान कितनी ही आवश्यक और वास्तविक त्रुटियोंकी ओर दिलाया गया है। इस लेखको प्रकाशित करके आपने आर्यसमाजका बड़ा उपकार किया है। सार्वदेशिक सभा और आर्य प्रतिनिधि-सभाओंको उन त्रुटियोंके दूर करनेपर अति शीघ्र विचार करना चाहिए। ऐसे लेख उत्साह-वृद्धिमें बहुत सहायक होने चाहिए, परन्तु चित्रका आशाजनक रूप भी हमें अपने समक्ष रखना चाहिए। यदि वास्तविक दशाका बोध न हो, तो भी उन्नतिमें बाधा पड़ती है। मनुष्य अवनतिमें रहते हुए भी अपनेको उन्नत दशामें समझ लेते हैं। इसके साथ ही अत्यन्त निराशासे भी निरुत्साह हो जाना सम्भव है।

आर्यसमाजकी समालोचना करनेसे पूर्व निम्न-लिखित बातें ध्यानमें रखनी चाहिए। आर्यसमाजके कार्यके तीन पहलू हैं--(१) आर्यसमाजके सिद्धान्त, (२) आर्यसमाजके सदस्य और (३) आर्यसमाजकी संस्थाएँ। यह बात निर्विवाद है कि आर्यसमाजके सिद्धान्तोंने प्रत्येक प्रकारसे विजय प्राप्त की है, और समस्त भारतवर्षमें खलबली मचा दी है। प्रत्येकको अपने-अपने सिद्धान्तोंके नवीन संस्करण निकालने पड़े हैं। मूर्तिपूजाके अब विचित्र अर्थ किये जाने लगे हैं। मूर्त्ति अब ईश्वरकी मूर्त्ति नहीं मानी जाती, परन्तु मूर्त्तिमें जो ईश्वर है, उसकी पूजा की जाती है। श्राद्धमें जो खाना दिया जाता है, वह अब मुर्दों तक नहीं पहुँचता, केवल मरोंकी यादगारमें दान रह गया है। यही दशा सामाजिक सिद्धान्तोंकी है। बाल-विवाह, बहुविवाह, वृद्ध-विवाहके सब विरोधी हैं। जातीय संगठनके लिए तथा अनाथ और विधवाओंकी रक्षाके लिए सब उत्सुक हैं। मुसलमान चार स्त्रियोंसे विवाह करना अपने मतका आवश्यक अंग नहीं मानते। ईसाई अपने त्रैतवादको नवीन रूप देने लगे हैं। ऐसी दशामें प्रत्येक समालोचकको सिद्धान्तोंकी प्रशंसा अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिए।

आर्यसमाजके विषयोंमें विचार करनेसे पूर्व दो-एक बात ध्यानमें रखना आवश्यक है। आर्यसमाजका वैदिक धर्मसे वह सम्बन्ध है, जैसा क्रिश्चियन मिशनरी सोसाइटीका क्रिश्चियेनिटीसे। अर्थात् वैदिक धर्मके सिद्धान्तोंके प्रचार करनेके लिए आर्यसमाज है। जब तक आर्यसमाजके अनुयायियोंकी संख्या बहुत अधिक नहीं होती, उसी समय तक यह रजिस्टर दिखाई देते हैं। नहीं तो जैसे अन्य मतवालोंके अनुयायियोंका रजिस्टर नहीं है, वैसे ही आर्यसमाजका भी नहीं रहेगा। हां, आर्यसमाजके प्रचारक तथा प्रबन्धकोंका रजिस्टर रहेगा, अनुयायियोंका नहीं। यह अब भी देखा जाता है कि ऐसे बहुतसे व्यक्ति हैं, जिनका नाम समाजके रजिस्टरमें अंकित नहीं है, परन्तु जो सिद्धान्तोंको भलीभाँति मानते और अनेक अंशोंमें उनपर अमल भी करते हैं। जो रजिस्टरमें अंकित हैं, वे आर्यसमाजकी जांचके आधार नहीं हो सकते। वे उन रोगियोंके समान हैं, जो किसी औषधालयमें औषध लेनेके लिए अपना नाम लिखा देते हैं। आर्यसमाज रजिस्टरकी संख्याकी दृष्टिसे एक 'Co-operative Hospital' है, जहाँ मरीज अपना भी इलाज कराते हैं और बारी-बारी डाक्टर बनकर दूसरोंकी चिकित्साकी भी फिक्र रखते हैं। ऐसा अभी प्रतिशत एक आदमी भी नहीं है, जिसका लालन-पालन वैदिक मर्यादाके अनुसार हो, अर्थात् जिसने वैदिक शिक्षाके अनुसार शिक्षा प्राप्त की हो और जिसका जीवन वैदिक संस्कारोंसे संस्कृत हुआ हो। आर्यसमाजमें अब तककी भर्ती उनकी है, जो किसी-न-किसी प्रकारके आत्मिक या मानसिक रोगोंमें ग्रसित थे, जिनके अन्दर इस रोगसे बचनेकी कुछ चिन्ता है और जो उस रोगके लिए

उस औषधिको अच्छा समझते हैं, जिसका प्रचार आर्यसमाजकी वेदीसे होता है। यदि रजिस्टरमें अंकित संख्याको इस लक्ष्यसे ध्यानमें रख जाय, तो अधिक निराशाकी बात नहीं ; क्योंकि यदि समाजमें प्रवेशसे पूर्व और प्रवेशसे पश्चात्‌की दशाओंको तुलनात्मक दृष्टिसे ध्यानमें रखा जायगा, तो बहुत बड़ा अन्तर मिलेगा। यदि कोई दमा लेकर आया था, तो अब साधारण खांसी रह गई है। यदि पहले दस त्रुटियाँ थीं, तो अब दो-तीन शेष हैं, और यह भी उत्साहके चिह्न हैं कि शेष त्रुटियोंको भी दूर करनेके उपाय सोचे जा रहे हैं। ऐसी टूटी-फूटी भर्ती होनेपर भी आर्यसमाजकी सेना प्रत्येक प्रकारके धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रमें सबसे आगे नहीं, तो किसीसे पीछे भी नहीं है। आर्यसमाजके कार्यकर्ता हर स्थानमें अग्रसर हैं। आर्यसमाजके सदस्योंकी परीक्षाका समय उस समय आयगा, जब राज्य-प्रणाली वैदिक हो, राज-नियमोंकी सहायतासे वैदिक वर्ण और आश्रमोंकी मर्यादाएँ स्थापित हों और वैदिक शिक्षाके अनुसार शिक्षा हो। यद्यपि इस समय साँचोंके बनानेका ज्ञान तो है, परन्तु ठीक बने बनाये सांचे नहीं मिलते। कुछ अनुभवी कुम्हार भी कम हैं। ऐसी दशामें यदि खिलौने कुछ टेढे-सीधे हों, तो सांचेकी बिधिको दोष न देना चाहिए। आर्यसमाजकी संस्थाओंके :विषयमें भी यही बातें ध्यानमें रखनी चाहिए।

संस्थाओंपर तीन प्रकारसे विचार हो सकता है—(१) संस्थाओंके संचालक, (२) संस्थाओंके संसर्गमें आनेवाले व्यक्ति और (३) संस्थाओंके संचालनकी सामग्री। जो समाजके सदस्य हैं, उनमें से ही संस्थाओंके संचालक हैं, जो उनके विषयमें कहा जा चुका है, वह यहां भी लागू होता है। जो संस्थाओंके संसर्गमें आते हैं, उनकी दशा भी ऐसी ही है। जितने विद्यार्थी, जितने अनाथ और जितनी विधवाएँ आर्यसमाजको सुधारके लिए मिलते हैं, उनमें प्राय: सबकी जड़ें खोखली और उनका पालन ज़हरीले वातावरणमें हो चुका है। संस्थाओंके चलानेकी सामग्रीपर भी ज़रा विचार करना चाहिए। आर्यसमाजने एक नये दानकी विधि चलाई है। आर्यसमाजमें जो चन्दा है, वह न तो चढ़ावा है और न सरकारी महसूल। चढ़ावेमें तो दान लेनेवालेको बहुत बड़ी-बड़ी आशाएँ दिलानी पड़ती हैं, और दान देनेवाला थोड़ा देकर स्वर्गमें एक कोठा या एक दालान पूर्वसे ही रिजर्व (सुरक्षित) कराना चाहते हैं। चढ़ावा लेने और देनेवालोंकी जो दशा है, उसका चित्र तीर्थ-स्थानोंपर देखिये। जितना बिना परिश्रमके धन आता है, वह व्यर्थमें ही व्यय हो जाता है। चढ़ावा चढ़ानेवाले धन देकर किये हुए पापोंका प्रायश्चित्त समझ लेते हैं और भविष्यमें नवीन पाप करनेको उत्साहित हो जाते हैं, क्योंकि रुपया देकर बचनेकी कुंजी उनके हाथमें आ गई है। इसलिए यह ऋषि दयानन्दका बड़ा परोपकार है कि उन्होंने आरम्भसे ही आर्यसमाजमें चढ़ावेकी विधिको प्रचलित नहीं होने दिया। सरकारी टैक्स ज़बरदस्ती वसूल होता है, उसका धार्मिक क्षेत्रसे कोई सम्बन्ध नहीं। आर्यसमाजमें जो दान मिलनेकी आशा हो सकती है, वह केवल देनेवालेकी शुभ इच्छा और निर्मल बुद्धिपर आश्रित है, और यह दानकी नवीन शैली है। यही कारण है कि समाजको आज तक बड़ी-बड़ी जायदादें बहुत कम मिली हैं, जिनकी स्थायी आयसे संस्थाएँ निर्विघ्न चलती रहें। आर्यसमाजके संस्थाओंकी गाड़ी उन भिखारियोंके सहारे चलती है, जिनके हाथमें जीवनपर्यन्त भीखका ठीका रहता है। इस कठिनाइयोंके होते हुए भी क्या यह सन्तोषजनक नहीं है कि इतनी संस्थाएँ आर्यसमाजके अधीन चलती रही हैं।

इस लेखसे यह कदापि अभिप्राय नहीं है कि वास्तविक त्रुटियोंपर पर्दा डाला जाय या उनके सुधारका उपाय न किया जाय। मेरे कहनेका तात्पर्य केवल यह है कि आशा और निराशा तराजूके दोनों पल्लोंकी भाँति तुले हुए रहें और वास्तविक दशाका बोध रहे। अन्तमें यह भी प्रार्थना करूँगा कि किनारेपर रहकर तैराककी कठिनाई ठीक रूपसे अनुभव नहीं होती। यदि समालोचक महोदय आर्यसमाजके कार्योंमें भलीभाँति सलग्न रहें, तो अच्छी और बुरी बातें उनकी दृष्टिमें रहें ; वह अपना

भी सुधार कर सकते हैं और उनके सहयोगसे दूसरोंका भी हित हो सकता है। आर्यसमाजके चौतसे बाहर रहकर केवल उसकी आलोचना करनेकी अपेक्षा उपर्युक्त मार्ग ग्रहण करनेकी उत्तमता प्रत्येक समझदार आदमीको माननी पड़ेगी।

—पूर्णचन्द्र, बी० ए०, एल-एल० बी०

वी० डी० ऋषिकी 'अज्ञानता'

अप्रेलके 'विशाल-भारत' में श्री वी० डी० ऋषिने मेरे ऊपर वाग्बाणोंकी ख़ूब वर्षा की है और मुझे भला-बुरा कहा है। पृष्ठ ५५५ में उन्होंने मेरे सम्बन्धमें यों लिखा है—"इस लेखमें उनके विचार देखकर उनके अज्ञानका अच्छा पता लगता है।" मैं ऋषिजीसे विनयपूर्वक पूछता हूँ कि उनको मेरे लिए 'अज्ञान' शब्दका प्रयोग करनेका क्या अधिकार है? क्या यह शिष्ट है?

उसी पृष्ठमें उन्होंने फिर यों लिखा है—"कुछ महीने पहले मुझे उनसे मिलनेका संयोग हुआ था। उस समय मैंने उन्हें (अवध उपाध्यायको) इस विषयके सम्बन्धमें विचार-विनिमय करनेके लिए बुलाया था, किन्तु आठ-दस दिनमें वे एक दिन भी नहीं आये।" ऋषिजीका उक्त कथन सर्वथा सत्य है। उन्होंने मुझे अवश्य बुलाया था, परन्तु उन्होंने कब बुलाया था और बुलानेके पहले मुझसे तथा उनसे क्या-क्या बातें हुई थीं, इन सब बातोंके सम्बन्धमें उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा है। अतएव मैं इन सब बातोंको साफ़-साफ़ लिख देता हूँ। यदि मेरी यह स्पष्टवादिता ऋषिजीको बुरी लगे, तो मैं उनसे क्षमा मांगता हूँ, और उन्हें तथा हिन्दी-जनताको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि स्वयं ऋषिजीने मुझे ऐसा लिखनेके लिए बाध्य कर दिया, मैं स्वयं इन सब बातों नहीं लिखना चाहता था।

कुछ महीने हुए ऋषिजी पन्ना-दरबारमें आये हुए थे। महेन्द्र महाराज पन्ना-नरेश श्री यादवेन्द्रसिंहजू देव तथा पन्ना-दरबारके अधिक प्रतिष्ठित अफ़सर एकत्रित हुए थे, क्योंकि ऋषिजीका व्याख्यान होनेवाला था। मैं ऋषिजीका व्याख्यान सुनने नहीं जाना चाहता था, क्योंकि मैंने लखनऊमें उनके व्याख्यान तथा सियांस देख लिये थे। छै वर्ष पहले ऋषिजीसे तथा मुझसे पन्द्रह दिन तक ख़ूब बातें हुई थीं, और जिस दिन उनका सियांस श्री दुलारेलाल भार्गवके यहां हुआ था, उस दिन भी मैं वहां मौजूद था। उन सब बातोंसे मेरी निजी धारणा ऋषिजीके बारेमें निश्चित हो गई थी, और मैं अब उनसे बातें करना नहीं चाहता था। यही कारण है कि तीन वर्ष हुए, जब ऋषिजी प्रयाग पधारे थे और मुझे प्रेमपूर्वक बुलाया था, तब मैं उनसे मिलने भी नहीं गया। कई महीने हुए जब ऋषिजी पन्ना पधारे और महाराजके सामने व्याख्यान देना निश्चय किया, तब भी मैं उनके व्याख्यानमें नहीं जाना चाहता था। तथापि महाराजकी आज्ञाके कारण मुझे भी उसमें सम्मिलित होना पड़ा। महाराजने पहले ही कह दिया कि आप लोग व्याख्यानके अन्तमें ऋषिजीसे प्रश्न कीजिएगा। इतना ही नहीं, महाराजने बैनर्जी तथा मुझसे विशेष करके अन्तमें प्रश्न करनेके लिए कहा। जब ऋषिजीका व्याख्यान प्रारम्भ हुआ, तब भी महाराजने अन्तमें प्रश्न करनेके लिए हम लोगोंसे कहला भेजा; तथापि ऋषिजीसे मैंने कुछ प्रश्न नहीं किया और न उनके बारेमें कुछ कहना ही चाहता था। जब ऋषिजीका व्याख्यान खतम हो गया, तो मैं चुप रह गया, गोकि महाराजने प्रश्न करनेके लिए कहा था; परन्तु अन्तमें जब महाराजने फिर संकेत किया, तब मैंने बड़ी नम्रतासे अपने विचार सभाके सामने पेश किये। उस कथनमें मैंने इस बातका ख़ूब ध्यान रखा कि मेरी कोई बात ऋषिजीके विरुद्ध न हो, क्योंकि ऋषिजी पन्ना-स्टेटके अतिथि थे। परन्तु अन्तमें मैंने परलोकवादके कुछ सिद्धान्तोंका खंडन किया, जो वास्तवमें भ्रामक तथा अशुद्ध हैं। ऋषिजी एक माध्यम हैं। मैं भलीभाँति जानता हूँ कि पाश्चात्य देशके अधिकांश माध्यम (Mediums) धोखेबाज,

धूर्त तथा छली सिद्ध कर दिये गये हैं। मैंने पाश्चात्य देशके माध्यमोंकी कुछ धूर्तताओं और उनकी क़लई खुलनेका मनोरंजक वर्णन किया। मैंने पाश्चात्य देशके माध्यमोंकी धूर्तताओंका उल्लेख किया, परन्तु इस सम्बन्धमें मैंने ऋषिजीके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा। माध्यम होनेके कारण ऋषिजी मुझसे रुष्ट हो गये, जैसा कि 'विशाल-भारत' के लेखसे अब सिद्ध होता है।

Materialization के सम्बन्धमें ऋषिजीने अपने व्याख्यानमें बहुत-कुछ कहा था। उसका भाव यह है कि आत्माएँ शरीर धारण कर लेती हैं और प्रत्यक्ष लोगोंके सामने आ जाती हैं। पाश्चात्य देशमें बहुतसे ऐसे माध्यम हुए हैं, जो इस बातका दावा करते हैं कि हम आत्माओंको शरीर धारण करा सकते हैं और सब लोगोंके सामने उन्हें सशरीर ला सकते हैं। इस सम्बन्धके पचासों धूर्त माध्यम पकड़े गये हैं और उनकी क़लई खोली गई है। अधिक लोगोंका विश्वास है कि अभी तक संसारका कोई भी माध्यम इस कार्यमें सफल नहीं हुआ है। इस सम्बन्धमें मैंने सभाके बीचमें, जहाँपर स्वयं पन्ना-नरेश भी मौजूद थे, ऋषिजीको Materialization करनेके लिए ललकारा था और परलोकवादके कई सिद्धान्तोंका खूब खंडन किया था। जब मैं बैठ गया, तब महाराजने मेरा उत्तर देनेके लिए सभाके बीचमें ही ऋषिजीसे कहा था, परन्तु ऋषिजीने मेरे प्रत्युत्तरमें कुछ भी नहीं कहा। इसके बाद सभा विसर्जित हो गई। इसके बाद महाराजके सामने जो सियांस होनेवाला था, वह भी नहीं हुआ, क्योंकि महाराजको मेरी बातें अधिक युक्तिसंगत जान पड़ीं। इसके अन्तर ऋषिजीने मुझे अपने यहां बुलाया। मैंने अपना समय व्यर्थ खोना उचित नहीं समझा, क्योंकि मैं भलीभाँति जानता हूँ कि ऋषिजीका ज्ञान इस सम्बन्धमें बहुत गहरा नहीं है। दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थोंके अध्ययन न करनेसे परलोकवादकी कोई भी बात भलीभाँति नहीं समझाई जा सकती। लखनऊमें मैं उनके साथ कई दिनों तक बातें करता रहा और उसी समय समझ गया कि ऋषिजीसे इस सम्बन्धमें बातें करना व्यर्थमें समय खोना है, उसके बाद मैं परलोकवादपर स्वतन्त्र रूपसे ग्रन्थोंका अध्ययन करता रहा।

एक बार फिर मैं सारी हिन्दी-जनताके सामने और सब सत्यके अन्वेषण करनेवालोंके सम्मुख ऋषिजीको आह्वान करता हूँ कि वह आत्माको प्रत्यक्ष कर दें। ऋषिजी जो स्थान नियत कर दें, मैं वहीं पहुँचूँगा। वे जो समय निश्चित करें, मुझे स्वीकार है; वह जितने दिन कहें, मैं स्वाहा कर दूँगा। यदि ऋषिजी ऐसा नहीं कर सकते, तो तीन टांगवाली टेबिल हिलाना तथा स्वलेखका महत्व अधिक नहीं।

ऋषिजीने अपने परलोकवादके सम्बन्धमें मेरे विचारोंका वर्णन किया है। वास्तवमें वे सब बातें असत्य हैं और जनतामें भ्रम फैलानेवाली हैं। परलोकवादके सम्बन्धमें मेरे क्या विचार हैं? मैं एक पुस्तक इस सम्बन्धमें लिख रहा हूँ, उससे मेरे विचार स्पष्ट हो जायँगे।

ऋषिजीने लिखा है कि मेरी बातें निराधार हैं, परन्तु वास्तवमें वे मेरी किसी बातका भी खण्डन नहीं कर सके हैं। मैंने यूसेपियाका अपने लेखमें खूब खण्डन किया था, और यह भी लिखा था कि वह धूर्त थी। इस सम्बन्धमें ऋषिजीने लिखा है—"यूसेपियाके विषयमें बहुत-कुछ लिखा गया है।..............। यूसेपियामें जैसी एक नैसर्गिक शक्ति था, उसी प्रकार कुछ दोष भी थे। अपने दुराग्रहसे वह अपने दोष दूर न कर सकी, और इसीलिए विरोधियोंको सहज ही अवसर मिल गया।"

ऋषिजीके इन कथनोंसे स्पष्ट है कि वे भी यूसेपियामें दोष मानते हैं, तथापि वे मेरा वाग्बाणोंसे सत्कार करते हैं! ऋषिजीने सर आलिवर लॉजका नाम कई जगह लिया है, और उनके स्वर्गीय पुत्रकी दिनचर्याका उल्लेख किया है। इस कथनके सम्बन्धमें मैं ऋषिजीसे प्रार्थना करता हूँ कि क्या स्वयं सर आलिवर लॉजने उन सब कथनोंको अक्षरशः सत्य माना है? यदि ऋषिजीका उत्तर है हाँ, मैं कहूँगा, कृपया

एक बार आप उसकी भूमिका फिर पढ़ जाइये और उनके लेखोंको एक बार फिर अध्ययन कीजिए। स्वयं सर आलिवर लॉजने उन्हें अक्षरशः कभी सत्य नहीं माना है। यदि ऋषिजीका उत्तर है 'नहीं', तो मैं कहूँगा, तब फिर आप क्यों जनतामें भ्रम फैला रहे हैं ?

ऋषिजीने लिखा है कि मैं परलोकमें विश्वास नहीं करता, यह बात असत्य, मिथ्या तथा भ्रामक है। मैं ऋषिजीको चैलेंज देता हूँ, वे बतायें कि मैंने ऐसा कब और कहाँ लिखा ? हाँ, मैंने माध्यमोंकी धूर्त्तताके सम्बन्धमें अवश्य बहुत कुछ लिखा है, परन्तु सब बातें प्रामाणिक तथा सत्य हैं। मैंने यह भी कभी नहीं लिखा कि सबके सब माध्यम धूर्त्त हैं। पाश्चात्य देशके माध्यमोंके हज़ारों हथकंडे हैं और हज़ारोंकी क़लई खोली गई है। इन धूर्त्त माध्यमोंकी क़लई खोलनेके लिए कई ग्रन्थ लिखे गये हैं। इस बातको स्वयं वी० डी० ऋषिको भी मानना पड़ेगा, जैसा कि उनके निम्न-लिखित वाक्योंसे सिद्ध होगा—"माध्यमोंके दोष निकालनेवालोंने कुछ ग्रन्थ लिखे हैं, उनके आधारसे इस प्रकार दृष्टि-भ्रम कर देना सहज है।" ऋषिजीकी इन बातोंसे स्पष्ट है कि वे भी भलीभाँति जानते हैं कि इन धूर्त्त माध्यमोंकी क़लई खोली गई हैं, फिर भी ऋषिजीने मेरी बातोंके विरुद्ध लिख मारा है !

मैं ऋषिजीसे प्रार्थना करता हूँ, वे यह बतावें कि मेरी निम्न-लिखित बातें सत्य हैं या नहीं ?—

"अमेरिकाके एक धनवानने एक विश्वविद्यालयमें बहुत रुपया इसलिए जमा किया कि माध्यमों तथा परलोकवादके सिद्धान्तोंकी जाँच की जाय। बहुत कुछ जाँच करनेके बाद उन लोगोंने अपनी विज्ञप्ति निकाली कि सबके सब माध्यम धूर्त्त हैं, धोखेबाज़ हैं और भ्रम फैलानेवाले हैं ! उन लोगोंने तो यहां तक लिखा है कि आज तक इस मैदानमें कोई भी बात प्रमाणित नहीं हुई, सब धोखेकी टट्टी है।"

यह एक ऐसी बात है, जिसे ऋषिजी हँसीमें नहीं उड़ा सकते। यदि ऋषिजी कहते हैं कि उक्त बात सही है, तब वे मेरे लेखका क्यों विरोध करते हैं ? यदि वे कहते हैं कि 'नहीं', तो मैं कहूंगा, आप कृपा करके परलोकवादके साहित्यका अध्ययन कीजिए।

मैं ऋषिजीसे एक और निवेदन करता हूं कि माध्यमोंकी 'Who is who ?' नामक लिखित पुस्तकोंके सम्बन्धमें आपकी क्या राय है ? क्या इस प्रकार माध्यम लोग धोखा नहीं दिया करते थे। कुछ धूर्त्त माध्यम अपने पास बड़ी-बड़ी हस्त-लिखित पुस्तकें रखते थे, और उनमें उन सब लोगोंका नाम तथा परिचय आदि लिखा करते थे, जो प्रायः सियांसोंमें बैठा करते थे। ये धूर्त्त माध्यम उसी पुस्तककी सहायतासे विश्वास उत्पन्न करनेवाली बातें कह दिया करते थे। ये सब ठग एक दूसरेकी उस पुस्तकके लिखनेमें सहायता किया करते थे। क्या यह भी असत्य है ? माध्यमोंकी धूर्त्तताके सम्बन्धमें परलोकवादका साहित्य भरा पड़ा है। इन धूर्त्त माध्यमोंमें अनेकोंको वी० डी० ऋषि सच्चा नहीं सिद्ध कर सकते।

—अवध उपाध्याय

चयन

साहित्य-यज्ञ

कोई भी लेखक जो कुछ लिखता है, वह दो प्रकारसे लिखता है; एक वह जो उसे लिखना पड़ता है, दूसरा वह जो स्वयं लिखता है। बहुतसे लेखक ऐसे हैं, जिनकी जीविका ही लेखन है, और यदि वे न लिखें, तो उनका जीवन-निर्वाह न हो। ऐसे लेखकोंको कुछ-न-कुछ लिखना ही पड़ता है। समाचारपत्रोंके सम्पादकोंको भी इसी प्रकारसे कभी-कभी कुछ-न-कुछ लिखना पड़ता है। दिमाग खाली है, पर लिखना है — कुछ-न-कुछ लिखना ही पड़ेगा। बहुतसे पुस्तक-लेखक इसके लिए अन्य भाषाओंके ग्रन्थोंके अनुवाद करनेका धन्धा स्वीकार करते हैं। किसी भाषाकी कोई पुस्तक सामने रख ली, कलम उठाई और करने लगे अनुवाद। अनेक बार ऐसा होता है कि अनुवादके लिए जो पुस्तक सामने रखी जाती है, वह पहले पढ़ी हुई भी नहीं होती, और लेखकको पहलेसे यह मालूम भी नहीं रहता कि अब मैं क्या लिख रहा हूँ और आगे क्या लिखूँगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्य भाषाओंकी जिन उत्तम पुस्तकोंका अनुवाद हम करते है, उनके अनुवादसे भी कुछ-न-कुछ लाभ ही होता है, इसलिए किसी ग्रन्थका अनुवाद करना कोई बुरी बात नहीं है। पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि जिन ग्रन्थोंके हम अनुवाद करते हैं, उन ग्रन्थोंका विषय जब हमारा स्वायत्त नहीं होता, तब अनुवाद भी प्रमादरहित नहीं होता, और उस अनुवादसे वह लाभ नहीं होता, जो मूल पुस्तकसे होता है। पर जब कुछ-न-कुछ लिखनेके लिए अनुवाद करना पड़ता है, तब पाठकोंको भी कुछ-न-कुछ लाभ उठाना पड़ता है। जैसे लेखक होते हैं, वैसे ही पाठक होते हैं। जब लेखक, कुछ न कुछ लिखना पड़ता है, इसलिए कुछ लिखते हैं, तब पाठकोंकी भी यही दशा होती है कि कुछ-न-कुछ पढ़ना पड़ता है, इसलिए कुछ पढ़ते हैं और कुछ लाभ उठाते हैं। ऐसे साहित्यको हम परतन्त्र साहित्य कहेंगे।

कुछ लेखक ऐसे होते हैं, जो 'मौलिक' लिखनेमें अपना गौरव समझते हैं। पर ऐसे 'मौलिक' साहित्यके भी दो प्रकार हैं; एक वह जो लेखकको कुछ-न-कुछ लिखनेके लिए लिखना पड़ता है, जीविकाके लिए लिखना पड़ता है, और दूसरा वह जो वह स्वयं लिखता है। जीविकाके लिए जो कुछ 'मौलिक' लिखा जाता है, उसमें प्रायः ही यह देखनेमें आता है कि उस मौलिक लिखनेकी इच्छाको रुपये कमानेकी चिन्ता ग्रसे हुई रहती है। कुछ लिखो, मौलिक लिखो, क्योंकि लिखनेमें ही नाम है, और ऐसा लिखो कि पाठक उसपर टूट पड़ें, दनादन उस पुस्तककी बिक्री हो और खनाखन रुपये हमारे हाथमें आवें। पुस्तक लिखकर दनादन उसकी बिक्री करना या खनाखन रुपये वसूल कर कुछ नाम कमा लेना बुरा नहीं है, पर जो मौलिक चीज़ धन और नामके लिए ही हम लिखेंगे उसमें हमें यही सोचना होगा कि क्या लिखें, जिसे लोग पसन्द कर खरीद लें। लोकरुचिको ही जब हम अपना लक्ष्य बनाते हैं, तब हमारी मौलिक चीज़ साहित्यके मूलपर ही कुठाराघात करती है। बहुतसे लेखकोंको भी यह मालूम है कि लोग प्रायः अपनी दृष्टिको स्त्री-सौन्दर्यकी ओर देखनेमें लगाते हैं, इसलिए यह देखा जाता है, कि बहुतसी मौलिक पुस्तकोंपर किसी सुन्दर स्त्रीका चित्र छाप दिया जाता है, जिसमें कम-से-कम उस सुन्दर स्त्रीको देखकर ही लोग उस पुस्तकको खरीद लें। ऐसी पुस्तकोंके अन्दर मौलिक विषय भी प्रायः इसी रुचिका द्योतक होता है। यह भी परतन्त्र साहित्य है, परतन्त्र साहित्यमें भी यह घृणित साहित्य है, जो साहित्य नामके योग्य नहीं।

कुछ लेखक इसी कारणसे लोकरुचिके अधीन होकर कुछ ऐसे विषयोंका मौलिक वर्णन करते हैं, जिनका ज्ञान उन्हें नहीं रहता ; पर चीज़ मौलिक होनी चाहिए, उससे नाम और रुपया भी मिलना चाहिए, इसलिए विषयको न जानकर भी वह विषय लिखा जाता है। इसका चाहे जो परिणाम हो, लेखकोंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं, लेखकोंको उसकी कोई सुध भी लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। यह साहित्य भी परतन्त्र ही है। इसमें कोई घृणित भी हो सकता है और कोई केवल परतन्त्र ही।

साहित्य जिसे हम स्वाधीन या जीवित साहित्य कह सकते है, वह वह साहित्य है, जो अपने जीवन, अनुभव और आनन्दसे निकलता है। वेदान्त हो या सृष्टि-सौन्दर्य, इतिहास हो या उपन्यास, विज्ञान हो या काव्य, धर्मशास्त्र हो या समाजशास्त्र जो स्वायत्त है, स्वानुभूत है, स्वांत: सुख है, उसीका प्रकाश जीवित साहित्य है। जिस वेदान्तके ग्रन्थमें, चाहे वह मौलिक हो या अनुवाद, लेखकका जीवन, अनुभव और आनन्द मिला हुआ नहीं है, वह जीवित साहित्यका अंग नहीं हो सकता। सृष्टि-सौन्दर्यका वह वर्णन जीवित वर्णन नहीं है, जिसे लेखकने उस सौन्दर्यकी एक-एक छटाको देख-देखकर, आनन्दोत्फुल्ल होकर न लिखा हो। वह इतिहास जीवित नहीं है, जिसे लेखकने अपने अनुसन्धान-नेत्रसे स्वयं न देखा हो। वह विज्ञान जीवित विज्ञान नहीं है, जिसे लेखकने स्वयं न जाना हो। वह काव्य भी जीवित काव्य नहीं है, जो सबके सामने उपस्थित वस्तुओंके वर्णनसे चमत्कार उत्पन्न न करे। वह धर्मशास्त्र भी जीवित नहीं है, जिसकी श्रुति अपने श्रुतिपथमें न आई हो और वह समाजशास्त्र जीवित समाजशास्त्र नहीं, जिसमें समाजके पूर्वेतिहास, वर्तमान जीवन और भविष्यके सामंजस्यका दिग्दर्शन लेखकने स्वयं न किया हो। जीवित साहित्यमें ही समाजका जीवन है और समाजके जीवनका लक्ष्य है। ऐसा जीवित साहित्य किसी भी भाषामें, अन्य ग्रन्थोंकी तुलनामें, अत्यल्प ही होता है, यद्यपि होता है "एकश्चन्द्र-स्तमोहन्ति" के समान। पर इस अत्यल्प साहित्यको निर्माण करनेके लिए भी प्रत्येक देशमें समाज और सरकारको बड़े बड़े प्रयास करने पड़ते हैं। जो लेखक अपनी दरिद्रताके कारण कुछ-न-कुछ अनुवाद करते या कुछ-न-कुछ लिख डालनेके लिए लाचार होते हैं, इनमें से ही बहुतोंको उठाकर जीवित साहित्य निर्माण करनेके काममें लगाना पड़ता है।

जो परतन्त्र, निर्जीव, घृणित या अर्द्धमौलिक साहित्य नित्य ही असंख्य जीवोंका संहार करके कृष्णकाय मुद्रायन्त्रोंसे धड़ाधड़ बाहर निकलता रहता है, उसके लिए उस साहित्यके लेखक उतने दोषी नहीं है, जितनी कि वह व्यवस्था, जो साहित्य-निर्माणकी शक्ति रखनेवालोंके मुद्रायन्त्रोंके समान ही निर्जीव लेखन-यन्त्र बननेपर लाचार करती है। जो समाज यह चाहता है कि साहित्यका निर्माण हो, उस समाजको कोई ऐसी व्यवस्था बाँधनी होगी, जिससे आज जो लोग जीविकाके लिए कुछ-न-कुछ लिख डालते हैं, वे अपने जीवन, अनुभव और आनन्दकी वृद्धि करके उसमें से जीवित साहित्य निर्माण करें। अमेरिका और यूरोपके अनेक देशोंमें सरकारकी ओरसे अनेक ऐसी विद्या-वृत्तियाँ हैं, जिनसे प्रत्येक विषयमें ही वहांके साहित्य-सेवी नवीन ज्ञान, नवीन अनुभव और नवीन आनन्द लाभकर अपने ग्रन्थके द्वारा यह ज्ञान, अनुभव और आनन्द समाजको प्रदान करते हैं। वह एक प्रकारका साहित्य यज्ञ ही है, जिसमें समाज साहित्य-सेवी देवताओंकी तुष्टिके लिए धनकी आहुति देता है, और देवता प्रसन्न होकर उसपर अपने ज्ञान, अनुभव और आनन्दकी वर्षा करते हैं। नानाविध विद्या-वृत्तियोंके अतिरिक्त कितने ही बड़े-बड़े धनिकोंकी ओरसे बड़ी-बड़ी विद्या-वृत्तियाँ हैं, जिनसे कितने ही लेखकोंको अपना ज्ञान, और अनुभव बढ़ानेका अवसर मिलता है और उनकी साहित्य-सेवासे समाज लाभ उठाता है। हिन्दुस्तानमें भी विश्वविद्यालयोंकी कुछ छात्रवृत्तियाँ हैं, पर इनकी संख्या इतने बड़े देशमें तुषारविन्दुमात्रके समान है।

हिन्दीका हिन्दुस्तानमें सबसे बड़ा विस्तार है, इसीलिए यह राष्ट्रभाषा है। इसका साहित्य भी राष्ट्र-साहित्य होना चाहिए। हिन्दीमें लिखनेवाले प्रत्येक लेखकको कोई ऐसी विद्या-वृत्ति मिलनी चाहिए, जिससे वह अपनी रुचिके विषयमें अपना ज्ञान, अनुभव और आनन्द वर्द्धन करे। प्रत्येक लेखक यदि नहीं, तो साहित्यके प्रत्येक विषयके ज्ञानानुभवानन्दकी वृद्धिके लिए हिन्दी-भाषा-भाषी समाज एक-एक विद्या-वृत्ति स्थापित करे। इससे साहित्यके जितने विषय हैं, उनकी समृद्धिका पथ कुछ-न-कुछ प्रशस्त हो जायगा।

—लक्ष्मणनारायण गर्दे ('विजय')

उस पार

(१)

एक बार, आओ हम दोनों चलो चलें उस पार, सखी,
जहाँ बह रही हो आँखोंके विमल नीरकी धार, सखी,
चलो चलें, उस देश, जहाँ छिटका हो मंजुल प्यार, सखी,
जहाँ सकुच कर हो जाते हों, दो-दो लोचन चार, सखी,
जहाँ कुंजकी गलियोंमें मिलते हों दो दिलदार सखी,
चलो चलें, उस देश, जहाँ छिटका हो मंजुल प्यार, सखी।

(२)

लोक-लाज सकुची बैठी हो जहाँ द्रुमोंके झुरमुटमें,
जहाँ नेहकी चाह खिल रही हो कलियोंके सम्पुटमें,
अन्धे नियमोंकी निर्म्ममता ज्ञमता लुप्त जहाँ होती,
गतानुगतिके अन्धकारकी छाया लुप्त जहाँ होती,
सुन पड़ती हो जहाँ शृंखला-खण्डनकी झनकार सखी,
चलो चलें, उस देश, जहाँ छिटका हो मंजुल प्यार सखी।

(३)

जहाँ नया आसमाँ छबीला नीला चँदुआ ताने हो,
नये चाँद-सूरजकी आभा जहाँ नया रन ठाने हो,
नई ज़मीन, नये बादल, नूतन तारे, दिक्शूल नये,
नये शकुन, अपशकुन नये, हों जहाँ खिलें नित फूल नये,
जहाँ हुलसती बरआती हो हिरदेकी मनुहार सखी,
चलो चलें, उस देश, जहाँ छिटका हो मंजुल प्यार, सखी।

(४)

सजनि, तुम्हारी इस दुनियामें कसक-सिसकका ज़ोर बड़ा,
टूटे दिलकी हाय-हायका मचता रहता शोर बड़ा,
आतुरता अटकी रहती है, आँखोंकी गहराईमें,
आशा मूर्छित पड़ी उपेक्षाकी एकान्त तराईमें,
छोड़ चलो, यह देस, हुए अरमान जहाँ हिय-हार सखी,
चलो चलें, उस पार, जहाँ छिटका हो मंजुल प्यार, सखी।

(५)

ताना-बाना पूरे बैठा जोवनकी चादर बिनने,
उसी समय तुम आईं मेरे संचित तार-तार गिनने,
तारतम्य मिट गया, सिमिट, सिकुड़ा सारा ताना-बाना,
आफ़त ही हो गया तुम्हारा, सजनि, यहाँ आना-जाना,
श्वास और निःश्वासोंके टूटे हैं सारे तार, सखी,
अब तो ज़रा आन छिटका दो अपना मंजुल प्यार, सखी।

(६)

मेरी आराधना-परिधिका केन्द्र-बिन्दु सुकुमार, सखी,
सहसा ढलक पड़ा नैनोंके सम्पुटसे इस बार, सखी,
यहाँ उमड़ता है बेपरवाहीका पारावार, सखी,
कँपे अधर, रह गया सिसक कर हियका विमल दुलार, सखी,
यहाँ हो रहा है बाधाओंका स्वच्छन्द विहार सखी,
चलो चलें, उस देश, जहाँ छिटका हो मंजुल प्यार, सखी।

—'नवीन' (प्रताप)